THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

श्री वीतरागाय नमः

सम्यक्त्वसार शतक

लेखकः—

श्री १०५ क्षुल्लक
ज्ञानभूषण जी महाराज

ॐ

—ःजैनं जयतु शासनंः—

श्री सम्यक्त्व सार शतक

रचयिताः—

क्षुल्लक श्री १०५ श्री ज्ञानभूषण जी महाराज

—:※:—

प्रकाशक—

श्री दिगम्बर जैन समाज, हिसार ।

पुस्तक मिलने का पताः—

मैनेजर— श्री दिगम्बर जैन पञ्चायती मन्दिर कलां, हिसार

प्रथमावृत्ति प्रति १०००

श्री वीर निर्वाण संवत् २४८२
कार्तिक शुक्ला १५

सम्यक्त्वसार-शतक के रचयिता—
श्री १०५ क्षुल्लक श्री ज्ञान भूषण (पं० भूरामल) जी महाराज

सादर
समर्पण

इस

दूषित

वातावरण

वाले घनघोर

कालमें भी सूर्य के

समान यथार्थ मार्ग को

प्रदर्शित करने वाले प्रातः

स्मरणीय, जगद्वन्द्य, दिगम्बर परमर्षि,

गुरुवर्य, आचार्य श्री १०८ श्रीवीरसागर जी

महाज के करकमलों में मैं यह सम्यक्त्वसारशतक

सादरे समर्पित कर रहा हूँ। जिसे स्वीकार करते हुये

आप (गुरु महाराज) मुझ अल्पज्ञ को शुभाशिर्वाद प्रदान

करें तांकि मैं आगे भी इसी प्रकार से सरस्वती जिनवाणी की

सेवा कर सकूं

कार्तिक शुक्ला १५ आपका चरण सेवक— ज्ञानभूषण

❋ प्रस्तावना ❋

प्रस्तुत पुस्तक— सम्यक्त्वसार-शतक के लेखक है हमारे श्रद्धेय क्षुल्लक जी श्री १०५ श्री ज्ञानभूषण (पं० भूरामल ' जी महाराज । जिन का जन्म-राजस्थानके 'राणोली' (जयपुर) ग्राम मे हुवा है । आपकी पूज्य माता जो का नाम श्री घृतवलि देवी और पिता जी का नाम श्री चतुर्भुज जी है । आप खण्डेलवाल वैश्य जाति से सम्बन्ध रखते हैं ।

हमारे इस ग्रन्थ के कर्ता यद्यपि वैसे तो कुमार ब्रह्मचारी हैं । परन्तु आपने १८ वर्ष की अवस्था में अध्ययनकाल में ही नियम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया था । आजसे आठ वर्ष पूर्व आपने गृह त्यागकर श्री गम्बर जैनाचार्य श्री १०८ श्री वीरसागर जी के संघ में प्रवेश किथा । आप संस्कृत के तथा जैनागम के भी बड़े प्रकाण्ड पण्डित है, अतः आप संघ में रहते हुये उपाध्याय का कार्य करते रहे है ।

अब दो वर्ष से आपने क्षुल्लक की दीक्षा धारण की है । आप का अधिकतर समय, अध्ययन और अध्यापनमे ही व्यतीत होता है । आप स्वभाव से सरल परिणामी होने के कारण लोकप्रिय हैं । जहां कहीं भी आपका चतुर्मास होता है वहां त्यागियों तथा श्रावकों के पठन पाठन मे तथा ग्रन्थ के लिखने में ही आपका विशेष समय व्यतीत होता है । आप जैन-धर्म के मर्म को अच्छी तरह से समझे हुवे हैं और उसका उपदेश भी बड़े सरल शब्दों व्याख्या करते हुये किया करते हैं । आपके उपदेश से हर एक प्राणी–जो जैन दर्शन को नहीं जानता है

वह भी पूरा लाभ उठाता है। आप संस्कृत की कविता करने में बड़े सिद्धहस्त हैं। आपने "जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय भद्रोदय, दयोदय और हिन्दी छन्दोवद्ध समयसार आदि कई ग्रन्थों की रचना की हैं उनमें से जयोदय-काव्य तो श्री वीर-सागर संघ की ओर से प्रकाशित हो लिया है शेष ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं।

आपके इस सम्यक्त्वसार ग्रन्थ की संस्कृत सरससुबोध और चित्ताकर्षक भी है उस पर भी आपने इस की हिन्दी मे टीका करके तो सोने में सुगन्धवाली कहावत करदी है। ग्रन्थ का विषय तो नाम से ही सुस्पष्ट है। जिनशासन में सम्यक्त्व के महत्व पर विशेष जोर दिया गया है। सामान्य गृहस्थ से लेकर बड़े से बड़े त्यागी- जब तक कि उनकी आत्मा में सम्यक्त्व का उदय नहीं होता, तब तक उनका गार्हस्थ्य एवं त्याग निरर्थक ही है। यही बात इस ग्रन्थ मे एक शतक श्लोकों में बतलाई गई है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थको ऐसे सुन्दर ढंगसे लिखा है कि मानवमात्र इसको पढ कर लाभ उठा सकता है। प्रारम्भमे ही बतलायागया है कि सम्यक्त्व आत्माकी वास्तविक अवस्था का नाम है, उसी को धर्म कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र के भेद से तीन भागों मे विभक्त होता है। सातवे श्लोक में बतलाया है कि—संसारी प्राणी की अहन्ता और ममता करना ही उसका पागलपन है, भूल है, खोटापन या बिगाड़ है, इसीं को जैनागम में मिथ्यात्व कहा गया है। १६ वे श्लोक मे बतलाया गया है कि जीव जब राग द्वेषमय बनता है तो स्वयमेव पुद्गलवर्गणायें भी उसके लिये कर्मरूप बन जाती हैं। आगे चल कर तीसवें श्लोक मे— सम्यग्दर्शन

होने पर जीव की कैसी धारणा होती है उसको बतलाते हुये लिखा गया है कि- सम्यग्दृष्टिजीव ऐसा विश्वास करता है कि मेरी आत्मा इस शरीर में होकर भी इस शरीर से भिन्न है और सच्चिदानन्दस्वरूप है । ५१ वे श्लोक मे लिखा है कि सम्यग्दृष्टिजीव का- जो जैसा करता है वह वैसा स्वयं भरता है, इस प्रकार का अटल विश्वास होता है । फिर ५२ वे श्लोक मे बतलाया है कि- तत्वार्थ का ठीक ठीक श्रद्धन होना सम्यग्-दर्शन, ठीक ठीक जानना सम्यग्ज्ञान और तत्वार्थ के प्रति उपेक्षाभाव होना सो सम्यक् चारित्र है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इस तरह से तत्व सात होते है। सम्यग्दृष्टि जीव को तत्वो का ठीक श्रद्धान होता है। अतः आत्मा और शरीर को जुदाजुदा देखता है-शरीर को जड और आत्मा को ज्ञानमय मानता है । ऐसा ही अपने व्यवहार मे लाता है, अतः सात वेदनीय के उदय मे हर्ष तथा च असात वेदनीय के उदय मे शोक नहीं करता। समताभाव रखता है। उसका प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रहता है । और उसकी कषाय बहुत मन्द होती है । इस प्रकार आदरणीय क्षुल्लक जी महाराज ने इस ग्रन्थ में भली भांति स्पष्ट कर दिखाया है।

जैन समाज हिसार का पुण्य का उदय था कि श्री क्षुल्लक जी महाराज ने वीर निर्वाण संम्बत् २४८२ में चतुर्मास हिसार मे किया और हिसार समाज की प्रेरणा पर आपने इस ग्रन्थ को लिख कर प्रकाशित करने की अनुमतिप्रदान की, इस के लिये यहां की जैनसमाज अपाना अहोभाग्य समझती है।

महावीरप्रसाद जैन
एडवोकेट

देवकुमार जैन
सम्पादक- मातृभूमि, हिसार

❀ श्री वीतरागाय नमः ❀

卐

अथ समकत्त्व सार शतकं

—❀❀❀—

सम्यक्त्व सूर्योदय भूम्टतेऽह मधिश्रितोऽस्मिप्रणतिंसदेह ।
यतः प्रलीयेत तमोविधात्री भयङ्करासाजगतोऽथरात्रिः ॥१॥

अर्थात्— सम्यक्त्य रूप सूर्य का जहां पर उदय होता है उस उदयाचल पर्वत के लिये मैं (पं० भूरामल) हर समय प्रणाम करने को तत्पर हूं। जिस सम्यक्त्व के उदय होने से अन्धकार को फैलाने वाली और डर उत्पन्न करने वाली वह मिथ्यात्वरूप रात्रि इस दुनियां पर से यानी प्राणिमात्र के दिल पर से विलकुल विलीन हो जाती है।

यहां पर सम्यक्त्व को सूर्य और जिस आत्मा में वह प्रगट होता है उसे पर्वत बतलाया गया है तथा उस के लिये नमस्कार किया गया है । इस का कारण यह है कि सम्यक्त्व हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का अद्भुत सहज प्रकाश प्रगट होता है जिससे यह आत्मा इसके साथ हो रहने वाले अनादि कालीन ठब्बूपन को त्याग कर सहज स्वाभाविक प्रभुत्व

को प्राप्त कर लेता है । एवं वह इतर सर्व साधारण के लिये नम्रता पूर्वक चल कर पर्वत के समान स्वीकार्य हो लेता है। तथा सूर्य के न होने से अन्धकारमय रात्रि होती है ताकि कोई भी ठीक मार्ग नहीं पाता एवं डरपोक हो कर अकर्मण्य हो रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व के न होने से यह संसारी जीव भूल में पड़ कर दिग्भ्रान्त होते हुये भयभीत बन रहा है।

हमारे आगम ग्रन्थों में भय-इस लोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय, और अकस्माद्भय के भेद से सात प्रकार का बतलाया गया है। जिसके कि फंदे में यह संसारी जीव फसा हुआ है। परन्तु सम्यक्त्वशाली आत्मा उससे बिलकुल रहित होता है वह कैसे सो बताते हैं – संसारी जीव- अपने वर्त्तमान शरीर को तो इहलोक और आगे प्राप्त होने वाले शरीर को परलोक समझता है अत: वह सोचता है कि यह दृश्यमान इतर सब लोग न मालूम मेरा (इस शरीर का) क्या बिगाड़ करदें ऐसा तो इस लोक का भय इसे बना रहता है। और परलोक में न मालूम क्या होगा इस प्रकार आगे का भय बना रहता है। परन्तु आत्मानुभवी सम्यक्त्वी जीव समझता है कि मेरा लोक तो चैतन्य मात्र है वह तो मेरा मेरे साथ है उस पर किसी का कोई चारा नहीं चल सकता । उसके सिवाय और सब परलोक है उससे वस्तुतः मेरा कोई लेन देन सम्बन्ध नहीं है फिर डर कैसा कुछ भी नहीं। शारीरिक विकार का नाम वेदना है।

संसारी जीव इस शरीर को आप रूप या अपना मानता है इस लिये इसमें वात पित्तादि की हीनाधिकता से गड़बड़ होती है तो इस जीव को दुःख होता है अतः डरता है परन्तु सम्यक्त्वी जीव तो आत्मा को शरीर से बिलकुल भिन्न अनुभव करता है। अतः शरीर के बिगाड़ में उसका कोई भी बिगाड़ नही फिर उसे डर ही क्या कुछ नही। मोही जीव धन, मकान वगैरह को अपने मान कर उन्हें बनाये रखना चाहता है शोचता है कि इन्हे कोई चौर, लुटेरा लेजायगा तो मैं क्या करूंगा, उससे मैं इन्हे कैसे बचा सकूंगा, मेरी खुद की तो इतनी शक्ति नही है और दूसरा मेरा कोई सहायक नहीं है जो कि मेरी रक्षा करे एवं ऐसा कोई गुप्त स्थान भी नही है जहां पर कि मैं इन्हें छुपा कर रक्खूं इत्यादि। किन्तु निर्मोही वैराग्यशाली जीव के विचार मे सिवाय आत्मज्ञान के उसका और कुछ होता ही नही, ज्ञानको कोई चुरा नही सकता है न कोई उसका कुछ बिगाड़ कर सकता है बल्कि उसकी आत्मा मे तो दूसरा कोई कभी प्रवेश ही नही कर सकता फिर उसे डर कैसा। संसारी जीव अपने शरीर की उपज को अपना जन्म और उसके नाश को अपना मरण मानता है जो कि अवश्यंभावी है अतः हर समय भयभीत बना रहता है। किन्तु निर्मोही जीव के अनुभव में तो उसकी आत्मा अजर अमर है उसका कभी मरण हो नही सकता वह तो सदा स्वयं जीवनमय है अतः उसे मरण का भय भी क्यों हो। अज्ञानी

संसारी प्राणी को अकारण अनोखी नई चीज के पैदा होने का चानचक भय हुआ करता है वह सोचता रहता है कि न जाने किस समय क्या कोई नया बवाल खड़ा हो जावे ताकि मुझे कष्ट में पड़ना पड़े, किन्तु ज्ञानी वैराग्यशाली के ज्ञान में वे बुनियादी नई चीज न तो कोइ कभी हुइ और न हो ही सकती है जो कुछ होता है वह अपने सहायक कारण क्लाप को लेकर उपादान के अनुसार हुया करता है ज्ञान का काम जो कि सबको जाना करता है, सिर्फ उसे जानने का है उससे उस का कोई भी विगाड़ सुधार नही है । इस प्रकार जो समझदार है जिसके अन्तरंग में सच्चा प्रकाश है उसे इस भूतल पर किसी भी तरह का कोई भी डर नही वह निर्भय हो रहता है । किन्तु जो अज्ञानी है भूल खा रहा है उसके लिये डर ही डर है जैसी कि लोकोक्ति भी है—

> शोकस्थान सहस्राणि भयस्थान शतानि च ।
> दिवसे दिवसे मूढ़ माविश्यन्ति न पण्डितं ॥२॥

अतः उस सम्यक्त्व रत्न का आदर करना ही स्वहितैषी का कार्य है इस लिए उस सम्यक्त्व का ही हम आगे वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्वमेवानुवदामि तावद्विपत्पयोधेस्तरणाय नावः
समं समन्तादुपयोगि एतदस्मादृशां साहजिकश्रियेऽतः २।

अर्थात्— सम्यक्त्व जो है वही इस विपत्तियो के समुद्र संसार से तैर कर के पार होजाने के लिये नौका के समान है

समय अकेले अर्जुन के पास उर्वसी (इन्द्र अप्सरा) सोलह सिंगार करके गई थी तो अर्जुन ने पूछा— हे माता अर्धरात्रि समय यहां आनेका क्या कारण हुवा, उर्वसी ने कहा— हे वीर तुमसे तुम्हारे जैसा पुत्र लेने आई हूँ । तब अर्जुन ने उसको नानाप्रकार से समझाकर उसके पैरों में मस्तक टेक दिया और नम्रभाव से बोला— हे माता जी मुझ कुन्तीपुत्र को अपना स्वधर्म का पुत्र समझलो । हे श्रोतागणों ! फिर वहां से वह उर्वसी लज्जित होकर चली गई । हे देवी देवतावो आपलोगों के लिये क्या यह प्रत्यक्षप्रमाण नही है, हां मौजूद है जब कि तुम श्रेष्ठ शरीरधारी सच्चे सन्त गुरुवों के पास जावोगे तो वह आपका विषयवासनाओं से मन हटा देंगे ।

सतगुरु वैद्य वचन विश्वासा ।
संयम यह न विषय की आशा ॥

अर्थात्— सत् गुरु रूपी वैद्य के वचनो में पूर्ण विश्वास जो कर लेते है उनकी विषय वासनावो का परित्याग कराकर के जन्म मरण के चक्कर से छुड़ा देते हैं ।

सचिव वैद्य गुरु तीन जो-प्रिय बोलें भय आस ।
राजधर्म तन तीन कर-होय वेग ही नास ॥

अर्थात्— राजा का मन्त्री वैद्य और सत् गुरु यह तीनों यदि उनके भय से तथा प्रसन्नता के भय या लाभ की आशा

से जैसा वो कहते हैं वैसा ही वो करते हैं तो राजा का राज्य मरीज का शरीर शिष्य का धर्म वेग ही नाश हो जाता है। अतः सत् गुरुदेव और वैद्य, मन्त्री निर्भय बोला करते हैं अथवा शिक्षा देते हैं। अब मैं आगे सुपुत्र शिक्षा लिख रहा हूँ—

पिताधर्माः माता स्वर्गी पिता ही परम तपः।
पितरि प्रीतिमायन्ने प्रियन्ते सर्व देवताः ॥

अर्थात्— जो पुत्र माता पिता की सेवा अथवा उनकी आज्ञा से ही स्वर्ग प्राप्त करता है इस लिये माता पिता की सेवा करना ही परम तप है जो अपने माता पिता की आज्ञा पालन करता है उससे सम्पूर्ण देवता प्रसन्न रहते है और वह आनन्दपूर्वक क्लेशों से छूट कर यश कीर्ति पाता है। प्रमाण। जैसे भगवान् श्रीराम जी ने अपने माता पिता की आज्ञा पालन की थी उनका नाम यश कीर्ति जब तक सूर्य चांद रहेंगे तब तक उनका नाम अमर रहेगा। यह सनातनधर्म है। जैसे-भगवान श्रीराम ने अपनी पत्नी सती सीता से शुद्ध प्रेम ही किया था जो कि सारी उमर में एक ही सन्तान को पैदा किया था वैसे ही आपको अपनी पत्नीसे शुद्ध प्रेम करनेवाले अपनी पत्नी की सदा सम्मति लेने वाले अपनी स्त्री को सदा प्रसन्न रखने वाले अपनी स्त्री को सदा सन्तोष से रखने वाले स्त्री की सदा शुद्ध आज्ञा पालन करने वाले अपनी स्त्री को दयाधर्म

नीति विचार पर चलाने वाले अपनी स्त्री को शुद्ध भावना से प्रसन्न करने वाले अपने इष्टदेव के नेत्रों में दर्शन करने वाले अपने इष्टदेव को रोम २ में बसाने वाले अपने सतगुरुदेव को सच्चे दिल से तन, मन, धन, प्राण अर्पण करने वाले चलते फिरते सोते जागते खाते पीते बोलते आदि सब काम करते हुये भी अपने सतगुरुदेव इष्टदेव में पूर्ण स्थिति रखने वाले दुराचार को मिटाकर सदाचार में दृढ रहने वाले क्योंकि यह शरीर बार बार नही प्राप्त होता है पर विचार करो कि इस संसार को वेद शास्त्रों ने अनादिकाल से बतलाया है और इसके भोग भी अनादिकाल से चले आरहे हैं और तभी से आपने पति पत्नी बन कर चौरासीलाख योनियों में भोग ही तो भोगे पर विचार करो कि आप पति पत्नी को कभी सन्तोष भी हुवा, आपको इन चौरासी लाख योनियों में सुख शान्ति नही मिली तो क्या इस मनुष्ययोनी में मिल सकती है नहीं मिल सकती। प्रेमी पाठको यह मनुष्य योनी केवल भोगो के लिये नहीं मिली यह तो भोगोंको खत्म करने के लिये मिली है। आप विचार करके देखो कि आपके यह भोग विषय खुजली के समान हैं जैसे २ खुजली को खुजावोगे वैसे ही खुजली आपको प्रिय मालूम होगी, परन्तु खुजाते रहने से उसमें कोढ़ (जखम) होजाते हैं फिर बड़ा कष्ट होता है यही आपके विषय भोगने का हाल है। जैसे २ विषय भोगों को भोगते हो दिन रात वैसे ही खुजली की तरह दिन व दिन विषयभोग बढते ही जाते हैं

जो कि ज़ख़म या कोइ खुजली में पड़जाते है उसी प्रकार विषय भोगने से चौरासीलाख योनियां मे महाघोर नरक कुत्ती सूकरी की तरह आना जाना पड़ता है यही ज़खम दुस्तर है और भी जो विचारे विषय भोग जो हैं वो विष का भी विष है परन्तु विष के खाने से तो मनुष्य को एक ही बार मरना पड़ता है मगर विषय भोगनेसे बार २ जन्म मरण आवागमन के चक्करमे आना जाना पड़ता है इससे आपको जहांतक होसके विषय और विश्रो का परित्याग करते रहो, जितना २ परित्याग करते रहोगे उतने ही प्रभू सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा के पास पहुंच जावेगे। अथवा उसको ही प्राप्त करलोगे, क्योंकि प्रभू जो है सो निर्विषय है ऐसे ही आपको भी निर्विषय होना चाहिये कि आपको अखण्ड सुख शान्ति मिल जावेगी और आप इस संसार से छूट कर परमानन्द अमरपद की नित्य प्राप्ति हो जावेगी । फिर आप मेहरवानी करके मेरे इस अनुभव तथा लेखको रोजाना पाठ किया करें अथवा ध्यान किया करे यह गुदरीवाले की वाणी पर विश्वास करना यह मेरी विनती प्रार्थना है स्त्री-पुरुषों से । क्यों कि यह मनुष्य योनि तो भोगो के लिये नही मिलती है यह तो भोगों का खातमा करने के लिये मिलती है सो भी गुरुवो की कृपादृष्टि सत्संग अनुभवी की शरण में जाकरके उस ईश्वर तथा उस परब्रह्म अथवा अपने इष्टदेव की प्राप्ति कर सकते हो और सत्गुरुदेव की शरण भी लेली उनके सत्संग में भी गये परन्तु

उत्तर- ठीक है द्रव्यता के रूपमें सभी द्रव्य अनाद्यनिधन हैं न तो कोई भी द्रव्य किसी के द्वारा पैदा ही किया हुआ है और न कभी वह नष्ट ही होगा। अतः न तो कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कार्य ही है और न कारण ही, क्योंकि कार्य-कारणता पर्याय दृष्टि में होती है। हरेक द्रव्य में उस गुण की पूर्वपर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। पर्याय अर्थ-पर्याय और व्यञ्जन पर्याय के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिसमय सूक्ष्म सदृश परिणमन होता रहता है उसका नाम अर्थ पर्याय है वह सहज होती रहती है। परन्तु द्रव्यत्वगुण के परिवर्तन रूप जो व्यञ्जन पर्याय होती है वह पर द्रव्य सापेक्ष ही होती है देखो कि हरेक पुद्गल परमाणु में उसके रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण का परिणमन सहज स्वतन्त्र होता रहता है परन्तु वही स्कन्धरूपता में दूसरे परमाणु के संयोग बिना नहीं आता। मतलव भिन्न भिन्न दो परमाणुवों में जो स्कन्धपना आता है वह उनमें परस्पर एक दूसरे के द्वारा ही आता है इसको कौन समझदार स्वीकार नही करेगा। दो परमाणु मिल कर जो स्कन्ध वना वह उनकी एक व्यञ्जन पर्याय हुई व्यञ्जन-पर्याय को ही कार्य कहते हैं जो कि उपादान और निमित्त विशेष दोनों की सहयोगिता से होता है अन्यथा नही होता ऐसा हमारे हरेक आचार्य वतलागये हैं। तथा मोक्षमार्ग-प्रकाश' के अधिकार दो पृष्ठ ६३ में पं० टोडरमल जी लिखते हैं—

कि निमित्त न वने तो न पलटे। अर्थात्- निमित्त न होवे तो

कार्य नही होता है। तथा ऐसा ही अनुभव में भी आता है। फिर भी जो लोग— निमित्त न मिले तो कार्य नही होवा ऐसी मान्यता मिथ्या है, ऐसा कहते हैं उनकी वे ही जाने जैन शासन से तो उनका कोई समर्थन होता नही है।

शंका— जैनागम मे लिखा है कि:- क्रमभाविनः पर्यायाः अर्थात् पर्यायें एक के बाद एक क्रमशः होती हैं। जिस गुण की जिस समय जो पर्याय होनी है वही होती है। तब फिर अगर निमित्त न मिले तो वह कार्य (पर्याय) न हो यह कहना कैसे बन सकता है।

उत्तर— यह तो ठीक है कि द्रव्य में उस द्रव्य के सभी गुण सदा एक साथ रहने वाले होते हैं परन्तु उसकी सभी पर्यायें अथवा उसके एकगुण की भी सभी पर्यायें एक साथ नही होतीं भिन्न भिन्न काल मे होती हैं क्रमवार उपजती है। किन्तु क्रम भी दो तरह का होता है एक अनुक्रम दूसरा व्यपक्रम। जैसे कि बालकपन के बाद युवापन और युवापन के बाद वृद्धपन आता है यह तो अनुक्रम हुवा किन्तु जो दान्तों का गिरपड़ना या बालों का सफेद होना वृद्धपन में होता है। वह किसी किसी के कारण विशेष से जवानी में ही हो जाता है और किसी के वृद्ध अवस्था में भी नही होता। वृद्ध अवस्था में होने वाली दृष्टि की मन्दता किसी के जवानी में ही हो जाती है और फिर वृद्ध अवस्था के समय-वापिस दिखने लगजाता है यह व्युत्क्रम हुआ करता है। एक रेलगाडी के वीस डब्बे अपनी साधारण

व्यवस्था मे एक के बाद एक अनुक्रम से लोहे की पटरी पर ठीक निश्चित रूप मे चलते रहते हैं मगर जब सामने से दूसरी गाड़ी आकर टकराती है तो उसका कोई डब्बा आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे हो लेता है एवं कोई इधर उधर हो गिर पड़ता है यह सब व्युत्क्रम उस गाडी की टकरावण रूप निमित्त विशेष से ही होता है। एक आमके गाछ पर आम दश दिन में पकने वाले होते हैं उन्हीं को तोड़ कर पाल मे दे दिये जावें तो वे तीन चार दिन मे ही उस पाल की विशेष गरमी से पक कर तैयार हो जाते है ऐसा हमारे आगम मे भी बतलाया है। तथा जो आम पेड पर लगा हुआ है कच्चा है कुछ दिनों मे पकने वाला है उस पर एक सर्प ने आकर विष उगल दिया तो वह आम चट पट अपने हरेपन को त्याग कर पीला एवं अपने कठोरपन को उलांघ कर पिलपिला बन जाता है मगर उसका स्वाद जैसा समय पर पकने से होने वाला था वैसा न हो कर कुछ और ही तरह का होता है इस प्रकार का यह व्युत्क्रम निमित्त विशेष से ही होता है।

शंका—मान लिया कि द्वीपायन के निमित्त से द्वारिका नष्ट हुई मगर सर्वज्ञ भगवान् श्री नेमिनाथ ने तो बतलादिया था कि अमुक समय पर नष्ट होगी उस समय ही वह नष्ट हुई क्यों कि उस द्वारिकारूप स्कन्ध के पुद्गल परमाणुवोंमे तादृश परिणमन होनेवाला था सो ही हुवा

उत्तर— श्री नेमिनाथ स्वामी ने जैसे यह बतलाया था कि

द्वारिका अमुक समय जलेगी वैसे ही यह भी तो बतलाया था जो कि द्वीपायन के द्वारा जलेगी बस तो वह कार्य जैसा श्री नेमिनाथ स्वामी ने कहा था उसी समय हुवा किन्तु हुवा द्वीपायनरूप निमित्त के द्वारा उसके आने से।

शङ्का— ठीक निमित्त उपस्थित होता है सही किन्तु कुछ करता नही है कार्य तो अपनी उपादान शक्ति से ही होता है जैसे कि ज्ञान होता है वह जानता है किन्तु करता नही वैसे ही हरेक कार्य के समय निमित्त होता है।

उत्तर— भैया जी क्या कहते हो जरा शोचो तो सही देखो कि श्री महावीर भगवान् ने ज्ञान को हरेक वस्तु का एवं हरेक कार्य के होने का ज्ञायक कहा है जानने वाला बतलाया है वह जानता है सब चीजों को, कर्ता किसी को भी नही है ठीक है किन्तु निमित्त को तो कारण बतलाया है, कार्य के होने मे जैसे कि उपादान कारण होता है वैसे ही निमित्त भी कारण होता है और उन दोनों से ही कार्य बनता है। उपादान तो कार्यरूप मे आता है और निमित्त उसे कार्यरूपमे लाता है। अर्थात्-निमित्त विशेष के प्रभाव से उसके दवाव मे आकर ही, उपादान जो है वह कार्यरूपता को स्वीकार करता है यही वस्तु का वस्तुत्व है यही जैन शासन कहता भी है। याद रहे कार्य नाम विकार का है न कि सहज सदृश सूक्ष्म परिणमन का। अब ऐसा न मानकर अगर-निमित्त-कारण उपादान मे कुछ नही करता न वह सहायता मदद ही करता है और न किसी प्रकार का प्रभाव ही

डालता है ऐसा मानते हुये सिर्फ उपादान के भरोसे पर ही कार्य होना मान लिया जावे जैसा कि अपनी वस्तु विज्ञानसार में कान जी लिखते हैं और जैसा कि तुम समझ रहे हो तो फिर इसमें सबसे बड़ा भारी दोष तो यह आ उपस्थित होगा कि यह जो संसार में विचित्रता दीख रही है वह नहीं होनी चाहिए क्योंकि द्रव्यत्वके नाते सभी जीवात्मायें समान हैं सभी अनादिकाल से एक साथ है सबके गुण भी समान है और उन की पर्यायें निश्चितक्रम से किसी भी प्रकार के व्युत्क्रम विना एक अनुक्रम से होती हैं फिर यहां विचित्रता का क्या काम। सब की एकसी दशा सदा काल एक साथ ही होनी चाहिए। यही बात पुद्गल परमाणुवों के बारे में भी है। सभी पुद्गल परमाणुयें शाश्वत नित्य हैं पुद्गल द्रव्यत्वेन एकसे ही हैं उन में गुण भी स्पर्श रस गन्ध और वर्ण सब एकसे हैं और पर्यायें उनकी सबकी ठीक अनुक्रम से ही होती हैं फिर ये अनेक प्रकार के स्कन्धादि क्यों हुये तथा क्यों हो रहे हैं। नहीं होने चाहिये। फिर तो एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति वाली ब्रह्मवादियों की कहावत के समान जैन मत के हिसाब से भी द्वे वस्तुनी तृतीयं नास्ति यह कहावत चरितार्थ होनी चाहिये। फिर बन्ध मोक्ष संयोग वियोग जन्म मरण इसलोक परलोक और पुण्य पापादि की चर्चा पर हड़ताल फेर देनी पड़ेगी। अतः मानना ही चाहिये कि जो भी कार्य होता है वह उपादान और निमित्त कारण इन दोनों के अधीन हुवा करता है। उपादान से तो होता है

और निमित्त के द्वारा होता है। निमित्त भिन्न भिन्न प्रकार का होता है अतः कार्य भी अनेक भांति का वनता है यही जैन दर्शन की मान्यता है।

शङ्का— जैन दर्शन में दो नय है एक व्यवहार और दूसरा निश्चय नय। सो आप जो कुछ कह रहे हैं वह व्यवहार नय का पक्ष है व्यवहार नय में निमित्त जरूर है परन्तु कान जी ने जो कुछ कहा है वह निश्चय नय से वतलाया है निश्चय नय में तो कार्य अपने अपने उपादान से ही होता है क्योंकि निश्चय नय तो स्वाधीनता का वर्णन करने वाला है वह निमित्त की तरफ क्यों ध्यान दे पराधीनता में क्यां जावे।

उत्तर—निश्चय नय से अगर कहा जावे तो वहां तो प्रथम तो कारण कार्यपन है ही नहीं क्योंकि निश्चय नय तो सामान्य को विषय करने वाला है जहां कि न तो कोई चीज उत्पन्न ही होती है और न नष्ट ही जैसा कि-नासतो विद्यतेभावो नाभावे।वि-द्यतेसतः। निश्चयात्किन्तु पर्यायनयात्तावपिवस्तुनि ॥१॥ इसमें बतलाया है। हां अगर निश्चय नय विशेष से भी कहा जावे तो वहां कारण कार्यपन माना जरूर है और वहां उपादान को ही कारण माना है निमित्त को नहीं यह भी सही है क्योकि उसकी दृष्टि में निमित्त होता ही नहीं वह नय तो अभिन्न को विषय करने वाला है अतः उपादान को ही जानता है जैसा द्रव्य संग्रह में वतलाया है कि निश्चय नय से आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है अर्थात् अभिन्न रूप मे उसके भाव उससे ही होते

हैं और से नहीं। सो ठीक ही है क्योंकि निमित्त भिन्न चीज है जिसको कि निश्चय नय देखता ही नहीं है। फिर यह कहना कैसा कि निश्चय नय में निमित्त होता तो है जरूर परन्तु कुछ करता नहीं है। निमित्त तो है सो व्यवहार नय का विषय है तो उसकी दृष्टि में वह कार्य का करने वाला भी है। जैसे मान लो हमको स्याही बनानी है तो जिस के पास काजल है वह कहता है कि मेरेपास काजल है लो इससे स्याही बनेगी। दूसरे ने कहा लो मेरे पास बीजाबोल है इससे स्याही बनेगी। तीसरे ने कहा लो मेरे पास नीलाथोथा है इससे स्याही बनेगी। चौथे ने कहा लो मेरे पास केले के थम्भ का स्वरस है इससे स्याही बनेगी। पांचवें ने कहा लो मेरे पास मे घोटना है सो इस घोटने से स्याही बनेगी। स्याही बन गई अब काजल वाला तो कहता है यह स्याही मेरे काजल से बनी है। बीजाबोल वाला कहता है कि यह मेरे बीजाबोल से बनी है इत्यादि इसी प्रकार घोटने वाला कहता है कि मेरे घोटने से यह स्याही बनी है सभी अपने अपने कारण से उसे बनी हुई बताते हैं सो ठीक ही है। काजल वाला जो कहता है कि यह स्याही मेरे काजल से बनी है उससे अगर पूछा जावे कि यह काजल से ही बनी है या और कोई चीजसे भी तो इसपर वह कहता है कि मेरे काजल से जरूर बनी है और कुछ मुझे मालूम नहीं यहां तक तो ठीक बात है। मगर वह यदि ऐसा कहे कि इस स्याही में हैं तो बीजाबोल वगैरह भी फिर भी उन बीजाबोल वगैरह ने कुछ

भी नहीं किया स्याही तो मेरे काजल ही से बनी है तो ऐसा उसका वहना भूटा ही है। इस पर तो और बीजाबोल वगैरह को तो अभी रहने दो बल्कि वह घोटने वाला ही बोल उठेगा कि वाह खूब कहा महाशय जी जरा कहो तो सही कि यह मेरे घोटने के बिना कैसे बन गई मैंने सात दिन रात तक अपने घोटने से इसे घोटी है तभी यह बन पाई है मेरा जी जानता है कि मैंने इसमें कितनी रगड़ लगाई हैं वरना तो स्याही बन ही जाती मैं देखता कि कैसे बनती है। यह स्याही तो मेरे घोटने से ही बनी है तो इस पर इसे भूटा नहीं कहा जा सकता बस तो इसी प्रकार सभी प्रकार का कार्य उपादान और निमित्त दोनो की समष्टि से बनता हैं। उसको निश्चय नय उपादान से बना कहता है और व्यवहार नय निमित्त से, सो तो ठीक किन्तु उपादानसे ही कार्य बना है निमित्त होकर भी कुछ नहीं करता यह तो अनभिज्ञता है।

कार्य कारण का स्पष्टीकरण—

जो किया जावे वह कार्य कहलाता है और जिस किसीके द्वारा वह कियाजासके उसे कारण कहा जाता है। कारण सम्पादक है और कार्य सम्पादनीय। अब उस कार्य के होने में वह कारण दो तरह का होता है एक उपादान दूसरा निमित्त। जो स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है उसे उपादान कारण कहते हैं जैसे कि घट के लिये मिट्टी या उस मिट्टी की घट से पूर्ववर्ती पर्याय।

किन्तु जो खुद कार्यरूप न होकर कार्य के होने में सहकारी हो उसे निमित्त कारण कहते है। जैसे घट के लिए कुम्भकार 'चाक दण्ड वगैरह। वह निमित्त कारण दो तरह का होता है। एक प्रेरक और दूसरा उदासीन । प्रेरक कारण भी दो तरह का होता है एक तो गतिशील सचेष्ट और इच्छावान् जैसे घटके लिये कुम्भकार इसी को व्यावहारिक कर्ता भी कहते हैं। दूसरा सचेष्ट किन्तु निरीह प्रेरक निमित्त होता है जैसे कि घड़े के लिये चाक। उदासीन निमित्त वह कहलाता है जो निरीह भी होता है और निश्चेष्ट भी जैसे कि घट के लिये चाक के नीचे होने वाला शंकु जिसके कि सहारे पर चाक घूमता है। समर्थ-कारण- उपादान और निमित्तों की समष्टि का नाम है जिसके कि होने पर उत्तरक्षण में कार्य सम्पन्न हो ही जाता है। उन्ही के भिन्न भिन्न रूप में यत्र तत्र हो रहनेको असमर्थ कारण कहा जाता है अर्थात्- वे सब कारण हो कर भी उस दशा मे कार्य करने को समर्थ नही होते हैं। हरेक कार्य अपने उपादान के द्वारा उपादेय अर्थात्- अभिन्नरूप से परिणमनीय होता है तो निमित्त से नैमित्तिक अर्थात्- भिन्न रूप से सम्पादनीय। क्योंकि उपकिलाभिन्नत्वेनाऽऽदानं धारणमधिकरणं तदुपादान अर्थात्- उप यह उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है अभिन्नरूप से एकमेक रूप से जैसा कि उपयोग शब्द में होता है उपयोग यानी ज्ञान दर्शन जो कि आत्मा से एकमेक होकर रहता है वैसे ही यहांपर तादात्म्य समझना। आदान का अर्थ है धारण

करना अधिकरण या आधार एवं अभिन्न रूप से एकमेक होते हुये जो प्राप्त करने वाला हो वह उपादान होता है।

नियमेनमीयतेऽङ्गीक्रियते तन्निमित्तं सहायकं वस्तु। यानी निमित्त का अर्थ होता है सहायक सहयोग देनेवाला मददगार और जहां मदद की जाती है उसको नैमित्तिक कहते हैं। निमित्त नैमित्तिकता भिन्न द्रव्यों में हुवा करती है सो यहां पर कार्माण स्कन्ध निमित्त है और आत्मा नैमित्तिक। वह कार्माण-समूह उदासीन निमित्त है जैसे कि सूर्य कमल के लिये अर्थात्- सूर्य का उदय कमल को जबरन नही खोलता परन्तु उसका निमित्त पाकर कमल खुद ही खुल उठता है वैसे ही यह संसारी आत्मा कर्मोदय के निमित्त से विकृत हो रहा है। वह विकार क्या सो बताते हैं—

दुग्धे घृतस्येवतदन्यथात्वं सम्विद्धि सिद्धिप्रिय मोहदात्वं
इहात्मनः कर्मणि संस्थितस्य सूपायतःसादि तथात्वमस्य ॥७

अर्थात्— सिद्धि के स्वामी होने वाले हे आत्मन् यदि तू हृदय से विचार कर देखे तो तुझे समझ मे आजावेगा कि इन कर्मों में मूर्छित हो कर रहने वाले तेरा वह अन्यथापना अनादिकालीन ऐसा है जैसा कि दुग्धमे हो रहने वाले घृतका मतलब यह कि घृत का स्वभाव ठण्डक में ठिरजाने का और गरमी से पिघलजाने का तथा कपड़े वगेरह के लगजावे तो उसे चिकना बना देने का किंवा यों कहो कि दीपक की बत्ती में

होकर उजेला करने का है जो कि घृत शुरूसे ही दूधमें तन्मय हो छिपरहा है इस लिये उस अपने स्वभावको खोये हुये है वैसे ही आत्मा का भी स्वभाव विश्वस्तता शान्तता और विश्वप्रकाशकता है परन्तु अनादिकाल से कर्मोंमें घिर कर मूर्छित हो रहा है। अतः इसका वह सहजभाव लुप्त हो रहा है उलटा बन रहा है और का और होगया हुआ है अविश्वस्तता, उत्क्रान्तता और अनभिज्ञता के रूपमे परिणत हो रहा हुआ है। हां दूध में रह कर भी घृत की स्निग्धता अपना किञ्चित् स्फुटीकरण लिये हुये रहती है उसके आश्रय से घृतको पहिचान कर रई वगेरह के द्वारा विलोडन कर के दूध मे से निकाल कर फिर उसे अग्नि पर तपा छान कर उसे छछेडू से भी भिन्न करके शुद्धघृत कर लिया जाता है वैसे ही कर्मों में सने हुये इस आत्मा का भी सिर्फ ज्ञान गुण अपना थोड़ासा प्रकाश दिखला रहा है उसे बीज रूप मान कर सद्विचार रूप रई के द्वारा इस शरीर से भिन्न छांट कर तथा निरीहतारूप अग्नि मे तपा कर उसमें से राग द्वेषरूप छछेडूको भी दूर हटा कर इस आत्माको भी शुद्ध बनालिया जा सकता है जो कि शुद्धत्व,सादि और अनन्त है अर्थात्– पूर्ण शुद्ध होलेने पर आत्मा फिर वापिस अशुद्ध नही होता है जैसे कि मक्खन का घृत बना लेने के बाद वह फिर मक्खन नही बन सकता।

शङ्का— आपने जो कहा कि अशुद्धता अनादि से है और शुद्धता सादि सो समझ में नही आई हम तो समझते

हैं कि जैसे सूर्यको बादल ढकलेते हैं वैसे ही आत्मा या आत्मा के गुणों को कर्मों ने ढ़क रक्खा है अतः अशुद्धताकी तलीमें शुद्धता और मिथ्यात्वकी तली में सम्यक्त्वछिपा हुवा हैं

उत्तर— तुम समझ रहे हो ऐसा नही है क्यों कि शुद्ध अमूर्तिक आत्मा, मूर्तिक कर्मो के द्वारा कभी ढका नही जा सकता किन्तु संसारी आत्मा एक प्रकारसे फटे दूधके समान है। जैसे कांजी के मेल से दूध फट जाया करता है वैसे ही कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा खुद विगड़ी हुई है। विकार में निर्विकारपन नही रह सकता, फूटावर्तन समूचा नही कहाता ऐसा समझना चाहिये।

शङ्का— फूटे वर्तन के समान न मानकर संसारी आत्मा को उलटे वर्तन के समान और शुद्धात्मा को सुलटे वर्तन सरीखा कहा जाय तो क्या हानि है क्योंकि मिथ्यात्व का अर्थ भी उलटापन तथा सम्यक्त्व का अर्थ सुलटापन है।

उत्तर— तुम्हारे कहने मे तो अकेला वर्तन ही तो उलटा तथा वह अकेला ही सुलटा भी हो रहता है परन्तु आत्मा का हाल ऐसा नही है इसके साथ में तो कर्मों का मेल है ताकि आत्मा उलटा नही किन्तु बिगड़ रहा है खोटा हो रहा है। मिथ्यत्व का तथा सम्यक्त्व का अर्थ भी उलटापन तथा सुलटापन नही अपितु खोटापन एवं खरापन समझना चाहिये। अथवात् चूक और सूझ भी लिया जा सकता है और उसके विषय में हम एक उदाहरण देते है। देखो एक रोज एक आदमी घोड़े पर चढ़ कर जङ्गल मे गया वहां जा कर घोड़े को तो चरने के

लिये छोड़ दिया और आप किसी गाछ के नीचे आराम करने लगा। थोड़ी देर में बड़ी जोर की आन्धी चलने लगी और सांझ होगई इसी बीच में वह घोड़ा चरते चरते दूर चला गया उसके बदले वहां पर एक गधा आकर चरने लगा अब जब वह मुसाफिर वापिस घरको चलने के लिये उठा तो उस गधे पर चढ़ कर चल दिया अन्धेरी रात मे रास्ता भूल गया अपने घरके भरोसे किसी सरायमें घुसा। अब उस गधेको तो अपना घोड़ा,सराय को अपना घर मान रहा है उसीके झाड़ने पोंछने और साफ करने में लग रहा है। यह मेरा घोड़ा बड़ाचुस्त तेज चलने वाला है, यह मेरा घर भी पक्का अच्छा बना हुआ है। इस तरह विचारता है सो क्या वह उसका घोड़ा और घर है क्या ? किन्तु नही है। तो क्या उसमे उसका घोड़ा और घर कहीं छुपा हुवा है ? सो भी नही। और न वहां पर उलटापन ही है अर्थात्- उलटकर उपर का नीचे तथा नीचे का भाग उपर होगया हुवा हो सो बात भी नही है वहां तो और का और ही है गधे को घोड़ा और सराय को घर कहा जारहा है बस तो यही संसारी आत्मा का हाल है सो बताते है -

वस्तु द्वयं मूलतयाऽत्रभाति यच्चेतनाचेतननामजाति।
आद्योऽयमात्मा खलु .
जीवनामास्वभावतो विश्वविदेकधामा ॥ ८॥

अर्थात्— इस दुनियां में मूलरूप से दो तरह की वस्तु

हैं एक चेतन दूसरी अचेतन । यह हमारी आत्मा जिसको जीव भी कहते हैं वह तो चेतन है जो कि अपने सहज भाव पर आजावे तो विश्वभर की सभी चीजो को एक साथ देखने जानने वाला बन जावे परन्तु अपने आपे से गिरा हुवा है इस लिये इसकी यह दशा हो रही है ।

परः पुनः पञ्चविधः सधर्मा-धर्मौ विहायः परिवर्तनमी
शेषःस्वयंदृश्यतयाऽनुलोमीजीवादयोऽन्येनहिरूपिणोऽमी ।६।

अर्थात्— दूसरा पदार्थ अचेतन जो देख जान नही सकता वह पांच प्रकार का है । धर्म १ अधर्म २ आकाश ३ काल ४ और पुद्गल ५ इस तरह से अचेतन पदार्थों में से अन्त का पुद्गल नामा पदार्थतो दृश्यता यानी रूप और उसके साथ रहने वाले रस गन्ध एवं स्पर्श नामक गुणोंका धारक मूर्तिक है बाकी के चारों, रूपादि रहित अमूर्तिक हैं जीव भी रूपादि रहित अमूर्तिक है । किन्तु याद रहे कि जीव का यह अमूर्तिकपन संसारातीत शुद्ध दशा मे होता है संसारावस्था में तो कर्मों के साथ एकमेक हो रहने के कारण मूर्तिक ही है जैसे कि- तिल के साथ मे रहने वाला तैल अपने पतलेपन से रहित घनरूप हो कर रहता है ऐसा जैनशासन में बतलाया हैं देखो श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार की गाथा नं० ५६ में

ववहारेण दुएदेजीवस्सहवन्ति वण्णमादीया

ऐसा लिखा हुवा है फिर भी वह छद्मस्थोके दृष्टिगोचर होने

योग्य स्थूलता में कभी नहीं आता क्योंकि इसके साथ में लगे हुये कर्मस्कन्ध भी सूक्ष्म ही होते हैं। अस्तु। अब छहों द्रव्यों की अपनी अपनी संख्या क्या है सो बताते हैं—

धर्मोऽप्यधर्मोनभ एकमेव कालाणवोऽसंख्यतयाप्रुदेवः
भो पाठका ज्ञानधरा अनन्ता दृश्याणवोऽनन्ततयाप्यनन्ताः

अर्थात्— गमनशील जीव और पुद्गल को मछली को जल की भांति गमन करने में सहायक हो उसे धर्म द्रव्य कहते हैं यह एक है और असंख्यात प्रदेशी है और तमामलोकाकाश में फैला हुवा है। स्थानशील जीव और पुद्गल को जो ठहरने में सहायक हो जैसे कि पथिक को छाया अथवा रेलगाड़ी को स्टेशन सो यह अधर्म द्रव्य है यह भी एक द्रव्य है असंख्यात प्रदेशी है और तमाम लोक में फैला हुवा है।

शङ्का— जब कि चलने की और ठहरने की शक्ति जीव द्रव्य में या पुद्गल द्रव्य में है तो वह अपनी शक्ति से ही चलता है या ठहरता है। धर्मद्रव्य या अधर्मद्रव्य उसमे क्या करते हैं?

उत्तर— ठीक है चलने की शक्ति तो जीव द्रव्य की है मगर धर्म द्रव्य के निमित्त से वह चल सकता है ऐसा जैन सिद्धान्त है जैसा कि तत्वार्थ सूत्र नामक महाशास्त्र में — उर्द्धङ्गच्छंत्यालोकान्तान् यानी मुक्ति होते समयमें जीव लोक के अन्तपर्यन्त नियम से ऊपर को चला जाता है यह बात सही है किन्तु वह आगे क्यों नहीं जाता इस प्रकार की शंका इसमें आधर्मकती

है उसके उत्तरमे आचार्य श्री ने बतलाया है कि- धर्मास्तिकायाभावात् अर्थात्- अलोका-काश में गमन करने के लिये निमित्त भूत धर्म द्रव्य का अभाव है इस लिये नही जाता। श्री तत्वार्थ सूत्र जी के इस कथन से द्रव्यका स्वातंत्र्य और निमित्ताधीनता ये दोनो बातें स्पष्ट हो जाती हैं क्यों कि जीव की अपनी शक्ति का कोई उपयोग न हो। सिर्फ धर्म द्रव्य की सहायता से ही गमन होता हो तो फिर धर्म द्रव्य तो तमाम लोक में नीचे और इधर उधर भी है किन्तु मुक्त जीव इधर उधर न जाकर उपर को ही जाता है क्यों कि वह स्वभावाधीन है। अपने उर्द्धगमन स्वभाव के कारण उपर को ही जाता है यह तो है जीव द्रव्य की गमनविषयक स्वतन्त्रता परन्तु गमन करता है धर्म द्रव्याधीन हो कर। जहां धर्म द्रव्य नही वहां गमन नही होसकता। जैसे रेलगाड़ी चलती है अपनी शक्ति से किन्तु पटरी न हो तो नही चल सकती यह हुई निमित्ताधीनता और इसी का नाम सहायता है। अगर ऐसा न हो तो फिर धर्म द्रव्य के मानने की जरूरत ही क्या है? कुछ भी नही। किन्तु जैन धर्म कहता है कि धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्य हैं जो कि जीव और पुद्गल को चलने और ठहरने में मदद करते हैं। अधर्म द्रव्य न हो तो उनका चलते चलते ठहरना नही हो सकता और धर्म द्रव्य न हो तो उनका चलना। यदि स्वभाव ही से चलना अभीष्ट होता हो फिर धर्मास्तिकायाभावात् यह सूत्र न कह कर उसके स्थान पर तथास्वभावात्

यानी लोकाकाश के अन्त तक ही गमन करने का उससे उपर नहीं जाने का ही स्वयं जीव का स्वभाव है ऐसा सूत्र बनाया जा सकता था किन्तु जीवादि पदार्थ का परिणमन कथांचित् स्वतन्त्र होता है तो कथांचित् परतन्त्र भी। यानी वह परिणमन दो प्रकार का होता है एक तो अर्थ पर्यायरूप सदृश परिणमन दूसरा व्यञ्जन पर्यायरूप विसदृश परिणमन। सो अगुरु लघु गुणाधीन सदृश परिणमन–सूक्ष्म परिणमन तो निरंतर सहज होता रहता है किन्तु प्रदेशवत्व गुण के विकार रूप विसदृश परिणमन होता है वह निमित्त सापेक्ष ही होता है। एवं जीव और पुद्गल का गमन रूप परिणमने धर्म द्रव्य को निमित्त लेकर उसकी सहायता से और स्थानरूप परिणमन अधर्म द्रव्य को निमित्त लेकर उसकी सहायता से होता है ऐसा कहना ठीक ही है।

जो सब चीजो को जगह देता है वह आकाश द्रव्य कहलाता है जोकि अनन्त प्रदेशी सर्व व्यापी एक द्रव्य है। जितने आकाशमें सब द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाश को लोक कहते हैं और उससे बाहर जो सिर्फ आकाश है उसको अलोक कहा जाता है। जो सब द्रव्यों को परिवर्तन करने में सहायक हो उसे काल द्रव्य कहते हैं वह इस लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में एक एक प्रदेश में एक एक अणु के रूप मे भिन्न भिन्न स्थित है। जीव द्रव्य अनन्त हैं सो भिन्न भिन्न एकैक जीव लोकाकाश के जितने प्रदेशों वाला असंख्यात प्रदेशी है मगर

दीपक के प्रकाश की भांति संकोच विस्तार शक्ति को लिये हुये है अतः जितना बडा शरीर पाता है उसी प्रमाण होकर रहता है। मुक्तदशा मे अपने अन्तिम शरीर के आकार,उससे कुछ न्यूनदशा में रहता है। पुद्गल द्रव्य भिन्न भिन्न अणुरूप अनन्तानन्त हैं जो पुद्गलाणु अपने स्निग्ध और रूक्षगुण की विशेषता से एक दूसरे से मिल कर स्कन्धरूप हो जाते हैं इस अपेक्षा से पुद्गल द्रव्य भी बहुप्रदेशी ठहरता है। अतः एक काल द्रव्य को छोड कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते है।

जीवाश्च केचित्त्वणवः स्वतन्त्राः केचित् सम्मेलनतोऽन्यतँत्राः
कौमारमेके गृहितांचकेऽपि नराश्चदारा अनुयान्तितेऽपि ॥११॥

अर्थात्—उपर्युक्त छह द्रव्योंमे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदासे स्वतन्त्र हैं इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनके आधीन है किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य स्वतन्त्र भी होते है और परतन्त्र भी। जब कि एकाकी होते हैं तो स्वतन्त्र किन्तु दूसरे द्रव्य के मेलसे इनका परिणमन परतन्त्र भी होता है। जैसे कि आदमी तथा औरतों मे से कितने ही मरद कुवारे और कितनी ही औरते कुवारी रहती है बाकी के मरद तथा औरत एक दूसरे के साथ अपना सादी सम्बन्ध करके गृहस्थ बनते है तो उनका रहन सहन परस्पर एक दूसरे के आधीन होता है। एवं उनमें एक प्रकार की विलक्षणता आजाती है।

शङ्का – क्या विलक्षणता होजाती है क्या वे नर-मादा नही रहते
उत्तर— रहते तो नर-मादा के नर मादा ही हैं फिर भी उनमें अकेले में जो वात थी वह फिर नही रहती देखो कि विशल्या में ब्रह्मचारिणी की अवस्था में जो सर्वरोग हरण शक्ति थी लक्ष्मणके साथ विवाह हो जाने पर उसमें वह शक्ति नही रही वैसे ही पर द्रव्य के साथ संयोग विशेष होने पर द्रव्य में स्वाभाविकता नही रहती देखो कि—

धर्मोऽप्यधर्मोऽपि नभश्चकालः स्वाभाविकार्थक्रिययोक्तचालः
जीवस्तथा पुद्गल इत्युदारं परिव्रजेद्विक्रिययापिचारं ॥१२॥

अर्थात्— धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल ये चारों द्रव्य किसी के साथ अपना कोई प्रकार का नाता नही जोड़ते अतः ये सब ठीक एकअपनी उसी सहज चालसे परिणमन करते रहते हैं परन्तु जीव और पुद्गल इन दोनों की ऐसी बात नही है। ये जब एक दूसरे के साथ सम्मिलन को प्राप्त होते हैं तो एक और एक ग्यारह वाली कहावत को चरितार्थ करते हुये उदारता दिखलाते हैं यानी अपनी सहज स्वाभाविक हालत से दूर रहते हुये विकार से युक्त होते हैं। एक सो नेक किन्तु मेल में खेल होता है दो चीजों के मेल में विकार आये विना नही रहता। अपने सहज क्रमवद्ध परिणमन के स्थान पर व्युत्क्रमको ही अपनाना पड़ता है जैसे अकेला पथिक अपनी ठीक चालसे चलता है किन्तु वही जब दूसरे के साथ होता है तो दोनों को

अपनी चाल मिलानी पडती है तो साथ निभता है एवं विचित्रता आजाती है देखो कि पुद्गलाणु से पुद्गलाणु का मेल होने पर अपनी परम सूक्ष्मता को उलांघ कर स्कन्ध बनते हुये उन्हे स्थूलताकी सड़कपर आजाना पड़ता है। और पुद्गल का सम्बन्ध जब कि जीव के साथ होता है तो पुद्गल को शरीर एवं जीव को उसका शरीरी हो कर रहना पड़ता है।

एकोऽन्यतः सम्मिलतीतियावद्वैभाविकी शक्तिरुदेतितावत्
तयोरथैकाकितयाऽन्वयेतु शक्तिः पुनःसाखलुमौनमेतु। १३।

अर्थात्— जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य इन दोनोंमे एक वैभाविकी नाम शक्ति है दूसरे से मिलने पर उसके प्रभावको आप स्वीकार करना एवं अपना प्रभाव उस पर दिखाना यही उसका लक्षण है जो कि एकका दूसरे के साथ सम्बन्ध बना रहता है तब तक तो अपना कार्य करती है दोनो पृथक् पृथक् होने पर वह चुप हो बैठती है पेन्सिन पायन्दा कर्मचारी के समान बेकार हो लेती है। जैसे आकाश में जगह देने का गुण है किन्तु अलोकाकाश में जब कोई द्रव्य ही दूसरा नही तो किसे जगह दे अतः उसका कार्य वहां पर गौण है वैसे ही वैभाविकी शक्ति भी दूसरे से सम्बन्ध होने पर अपना कार्य करती है वरना वह चुप रहती है। हमारी सरकार में दो प्रकार के कर्म कर है एक तो सदा कार्य करने वाले और दूसरे आवश्यकता पर अपना कार्य दिखलाने वाले वैसे ही वस्तुमें भी

दो तरह की शक्तियां होती है एक तो स्फुटा दूसरी विस्फुटा। स्फुटा शक्ति का कार्य निरन्तर चालू रहता है किन्तु विस्फुटा-शक्ति अपने समय पर काम करती है जैसे आत्मा की चेतना शक्ति हर समय अपना कार्य करती रहती है परन्तु आत्मा ही की जो क्रियावती शक्ति है स्थान से स्थानान्तर होने रूप जो ताकत है वह सिद्ध अवस्था में सिद्धालय मे जाकर विराजमान हो जाने के बाद में अपना कार्य नही करती वैसे ही वैभाविकी शक्ति भी है। दूसरे के साथ मेल होने में उसका कार्य चालू होता है। अस्तु। पुद्गल के साथ में आत्मा का सम्बन्ध होने से क्या बात हो रही है सो बताते हैं—

अदृश्यभावेन निजस्यजन्तुर्दृश्ये शरीरे निजवेदनन्तु।
दधत्तदुद्योतनकेऽनुरज्य विरज्यतेऽन्यत्रधियाविभज्य। १४

अर्थात्— दृश्यनाम दीखने या देखने योग्य तथा दिखलाने योग्य का है दुनियां की सारी चीजे दृश्य हैं और आत्मा अदृश्य है। आत्मा दृष्टा है देखने वाला है और सब चीजें उसके द्वारा देखने लायक हैं। अथवा आत्मा तो दर्शक है दिखलानेवाला है और यह सब ठाठ दृश्य। मतलब आत्मा एक प्रकारसे नटवा है स्वाङ्गी है और यह संसार नाटक घर, जिसमें नाना प्रकारके स्वाङ्ग भरकर वह स्वाङ्गी नृत्य करताहै। रंगस्थल मे स्वांग भरकर नाचने वाला जैसा स्वांग लिये नाचता है तो भोला बालक उसमे छुपे व्यक्ति को नही पहिचान कर राजा के

स्वांग में उसे राजा और रङ्क के स्वांग मे उसे रङ्क मानता है वैसे ही यह दुनियांदारी का प्राणी उस शरीरधारी को उस शरीरमय ही मानता है, आत्मा अदृश्य होनेसे उस तक इसका विचार नही पहुचता । अथवा यों समझो कि नाटकस्थल मे उस नाटक का अधिपति किसी को राजा का स्वांग भरादेवे तो वहबड़ा खुश होवे कि देखो मैराजा बनगया और निर्वाचन समाप्त होने पर थोड़ी देर मे उसके उस स्वांग को वापिस उतारने लगे तो वह रोने लगे कि हाय मैं राजा बन गया था सो अब राजा से रंक बनाया जारहा हू तो यह उसकी भूल है वैसे ही यह संसारी जीव कर्मोदय से प्राप्त हुये अपने शरीर को ही अपना रूप मान रहा है अत: इसकी बुद्धि मे इस शरीर के लिये अनुकूल साधन है उनको देखकर तो राजी होता है उन्हे बनाये रखना चाहता है एवं शरीर के प्रतिकूल पड़नेवाली बातों से द्वेष करके उनसे दूर भागता है । स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थ खाना चाहता है मिलजावे तो अपने को भाग्यशाली समझता है । रूखी सूकी जोकी रोटी मिली तो देख कर रोने लगता है । मखमल के गद्दे पर लेट लगा कर खुश होता है कंकरीली जमीनपर वैठनेमे कष्ट अनुभव करता है । सुगन्धित तैल को बड़े चाव से शरीर पर मलता है मगर मिट्टी के तैल को छूने से ही डरता है । जिनसे शरीर आरामशील बने ऐसी बातों के सुनने मे तल्लीन रहकर उनके सुनाने शिखाने वाले को मित्र मान कर उसे देख कर ही प्रसन्न होता है, उपवास

वगैरह श्रमशील बातों को सुनकर ही घबराता है और ऐसा करने के लिये कहने वाले को शत्रु समझ रुष्ट होता है। शरीर की उत्पत्ति को अपना जन्म मान कर अगर कोइ पूछता है कि तुम कितने वड़े हो तो कहता है कि मैं पचीस वर्ष का होगया हूँ एव शरीर के नाशको ही अपना मरण मानकर उसका नाम सुनते ही भयभीत होता है इत्यादि रूपसे अपने विचार मे शरीरमय हो रहा है

कदापि माणिक्य मिवाभिभर्म सत्सङ्गतंस्वं खलुयानि नर्म
उदेतिचैतत्पयसोऽस्तुमस्तु यतोविकृत्याध्रियतेऽत्रवस्तु ॥१५॥

अर्थात्—कभी कभी ऐसा भी विचार आता है कि अहो खाना पीना सोना उठना इत्यादि कार्य तो सभी करते है मैंने भी ऐसा किया तो क्या किया मुझे कुछ भलाई का कार्य भी करना चाहिये ताकि सत्संग में आजाने से सुवर्ण के साथ में लगे हुये माणिक्य के समान मेरी दुनियां में शोभा हो जावे। सन्त महन्तों के कहने से यह भी समझा कि आत्मा से शरीर भिन्न है जड है विनाशीक है आत्मा इससे भिन्न प्रकार है अतः इस शरीर से कुछ परोपकार करलूं यह नर शरीर जो दुर्लभता से प्राप्त हुआ है उसे बेकार न खोऊं इस प्रकार अशुभभाव को छोड़ कर शुभ भाव पर भी आया परन्तु अन्तरंग में शरीर के साथ लगाव बना ही रहा यहां तक नही पहुंचपाया कि वस्तुतः कौन किसी का क्या कर सकता है । भगवान् ऋषभदेव की

वाणी में सदुपदेश हुआ जिसे सुनकर कच्छादि राजालोग तो अपनी पात्रता के अनुसार उलटे से सीधे रास्ते पर आगये फिर भी उन्हीं ऋषभदेव भगवान् का पोता मारीच उसी दिव्य ध्वनि को सुन कर प्रत्युत उलटे मार्ग पर चलने लगा। एवं किसीका सम्बन्ध भी किसीके साथ क्या चीज है देखो कि एक जंगल मे चार तरफ से चार मुसाफिर भिन्न भिन्न घरके आमिले सो यावज्जंगल में रहे तब तक एक दूसरे को अपना साथी कहते है जंगल से पार हुये कि सब भिन्न भिन्न होकर अपने अपने घर में जाघुसते है। बस तो इसी प्रकार परस्पर कुटुम्ब का वा एक दूसरे पदार्थ का भी संयोग है जो कि अतात्विक या क्षणिक है । इस मेरे कहलाने वाले शरीर का भी मेरे साथ वैसा ही सम्बन्ध है जब तक है तब तक है अन्त में तो यह अपने रास्ते और मै मेरे रास्ते जाने वाला हूँ फिर मैं क्यों इस उलझन म पड़ूं कि शरीर मेरा है । नहीं मै तो मैं ही मेरा हूँ एकाकी हूं। इस प्रकार के निर्द्वन्द्व भाव को जो जीव अपना लेता है, अन्तरंग से स्वीकार कर लेता है वह समता मे आजाता है फिर उसके लिये अपना पराया कोई कुछ नही रहजाता। न कोई मित्र, तो न कोई शत्रु। न कोई सहायक और न कोई कुछ विगाड़ करने वाला ही वह तो सदा शुद्ध सच्चिदानन्द भावमें मग्न हो रहता है। सहजरूप मे परिणमन शील होलेता है वाकी यह बात उपर्युक्त संसारी जीव में कहां है। वह तो दूध के बने दही के समान विकार को स्वीकार

किये हुये है। अपने आपको खो कर और से और बनाहुआ है शरीर को ही आत्मा मान कर अहंकारमें फंसा हुआ होता है। और अगर कही उसे दवा पाया, शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न भी समझ पाया तो भी शरीर को अपना जरूर मानता है अपनी बुद्धि में शरीर के साथ होनेवाले सम्बन्ध का विच्छेद नही कर पाता विलोये गये हुये दही के समान है जैसे कि विलोये हुये दही-मस्तु मेंसे भी उसका मक्खन पृथक् नही हुवा है उसी में पड़ा है वैसे ही यह भी शरीर के स्नेह को लिये हुये है ममता में डूब रहा है समता से बिलकुल दूर है यही इसकी भूल है जो कि अनर्थ का मूल है यही नीचे वता रहे हैं —

अहन्त्वमेतस्य ममत्वमेतन्मिथ्यात्वनामानुदधच्चथेतः।
बन्धस्यहेतुत्वमुपैत्यभ्यो पालम्भिनश्चौर्यमिवात्रदस्योः ॥ १६॥

अर्थात्— इस संसारी प्राणी की उपर्युक्त अहन्ता और ममता करना ही इसका पागलपन है भूल है खोटापन या विगाड़ है इसको हमारी आगम भाषा में मोह या मिथ्यात्व कहा है। अथवा यों कहो कि शरीरादिकों मे अहंकार ममकार लिये हुये है, परवस्तुवों को हथियाये हुये है यही इसका मिथ्यात्व है चोरटापन है, पर वस्तुवों को अपनाने वाला चोर होता है। वह जहां भी दीखपाता है उसे जो भी कोई देखता है पकड़कर बांधता है मारता पीटता कष्ट देता है और इस चोर को वह सब सहना पड़ता है क्यों कि वह अपराधी है

उसने अपराध किया है, इस लिये दब्बू बना हुवा है हर तरह से और हर तरफ से वह चौकन्ना रहता है, डरता रहता है कि कोई मुझे देख न लेवे इत्यादि वैसे ही यह संसारी आत्मा पर-पदार्थों में मोह राग द्वेष किये हुये है सो इसका यह अपराध ही इसके लिये बन्ध का कारण बन रहा है ताकि तीन लोक का प्रभु होते हुये भी दब्बूबन कर भयालु होते हुये बन्धन मे बन्धा हुवा है जो कि बन्ध चार प्रकार का माना गया हुवा है सो नीचे बताते हैं—

स्थित्यानुभागेन पुनः प्रकृत्या प्रदेशतस्तूर्यविधोविमत्या ।
बन्धःसचैतस्यसमस्तिरूपेयतोऽसकौसम्पतितोऽककूपे ।१७॥

अर्थात्—हरेक ही कैदी मुख्यरूप में चार तरह से विवश होकर रहता है। उसके हाथ पैरों मे हथकड़ी और बेड़ी होती हैं। उससे चक्की पिसाई जाती है या दरी बुनवाई जाती है या सड़क कुटवाई जाती है इत्यादि २। उमर कैद वगैरह के रूपमें उसे लिया जाता है ३ और अन्धेरी कोठरी या उजाली कोठरी तथा कालापानी आदि बोल कर उसे कैद किया जाया करता है। वैसे ही इस संसारी आत्मा के भी हरेक प्रदेश पर कर्मपरमाणुवोंका बोझ आकर पड़ता है जिससे कि यह हथकड़ी बेड़ियों की तरह जकड़ा जाता है और जिसे प्रदेश बन्ध कहा गया हुवा है १ वह आठ तरह की प्रकृति यानी स्वभाववाला होता है-ज्ञानावरण (जो ज्ञान को न होने दे) दर्शनावरण

(जो देखने न दे) वेदनीय (जो अड़चनकारक चीजों को जुटावे) मोहनीय (जो भुलावे मे डाले) आयु (जो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त शरीर मे रोके हुये रक्खे) नाम (जो काना खोड़ा कुवड़ा बौना आदि नाना हालत करता रहे) गोत्र (जो कभी ऊचा तो कभी नीचा कुल मे जन्म दे) अन्तराय (हर भले कार्य में रोड़ा अटकाया करे) यह आठ कर्म कहलाते हैं। इस आठ तरह के प्रकृति बन्ध मे जो काल की मर्यादा होती है वह स्थिति बन्ध के नाम से कही गई है ।३। कोई समय का कोई कर्म अपना साधारणसा प्रभाव आत्मा पर दिखलाता है तो कोई जोरदार, इसको अनुभागबन्ध समझना चाहिये। इस प्रकार जो इस आत्मा के बन्ध पड़ता है जिसकी कि वजह से इस जीव को कष्ट के गढ्ढे में गिरना पड़ रहा है, उसका और खुलाशा हाल अगर पाठकों को जानना हो तो गोमट्टसार वगेरह ग्रन्थों से जान सकते हैं हम यहां अधिक नही लिखते। हां जो करता है सो भोगता है परन्तु बान्धता है वह काट भी सकता है वह कैसे सो नीचे बताते हैं—

विदारयेद्बन्ध मुपात्तढक्षः पुनर्नपापायकृतान्तरंगः।
काराधिकाराद्भवतोऽतिगस्यास्यस्यात्सुखंदुःखमथात्रनस्यात्

अर्थात् - ऊपर बताया जाचुका है कि यह संसारी जीव कर्मों से बन्धा हुवा है जो कि कर्म विपाकान्त हैं गेहूँ आदि की खेती की भान्ति अपना फल देदेने पर नष्ट होजाने वाले होते

हैं । परन्तु पूर्वकृत कर्म यावत्– अपना पूराफल नही दे पाता उसके पहिले ही से यह जीव दूसरा कर्म खड़ा किये हुये रहता है जैसे मानलो कि एक किसान के पास सो बीघे जमीन है उस में से कुछ जमीन मे तो उसने जुवारी बाजरी और कुछ मे उड़द मूंग बो दिये । सो जुंवार बाजरी आसोज में तैयार हो गई उसे काट कर उस जमीन मे गेहूं चने बो दिये परन्तु उड़द मूंग उधर खड़े हैं सो जाकर पोष मे तैयार हुये उन्हें काटकर वहां पर उसने गन्ना लगा दिये । उधर गेहूं खड़े हैं सो वैसाख में जाकर तैयार हुये उन्हें काटकर फिर उसमें जुवार बाजरी लगादी । ईख खड़ी है उसे मगसर में काट कर उस जमीन में मटर बो दी जावेगी । इस प्रकार चक्कर चलता रहता है किसान खेती से शून्य नही रहता उसी प्रकार संसारी जीव भी एक के बाद एक कर्म निरन्तर करता ही रहता है और उनके फल पाता रहता है निष्कर्मा नही हो पाता । परन्तु अगर वह किसान चाहे कि मुझे तो अब किसान नही रहना है मुझे तो मेरी इस जमीन मे जो कि रत्नोकी खानि है उसका पता लगगया है अतः अब मुझे खेती का क्या करना है तो वह अपने खेती के प्रलोभन को सम्वरण करके आगे के लिये उसमें बीज न बोवे और जो कुछ खेती खड़ी है उसे पकने के पूर्व ही अपने हाथो से वण्टो मे उखाड़ फैंकदेवे एवं खानि खोद निकाल सकता है और रत्नाधिपति बन सकता है वैसे ही अगर संसारी आत्मा भी यह समझले कि मेरी आत्मा तो

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय का भण्डार है सच्चिदानन्द रूप है मुझे अब इस दुनियांदारी में फंसे रहकर पापारम्भ करने की क्या जरूरत है, तो फिर अपने मनका निग्रह करके आगे के लिये कर्म का बन्ध करने वाली कषायों को पैदा नही होने देवे और उसके साथ साथ शरीर तथा वचन को भी अपने वश में करके अपने पहले के बन्धे हुये कर्मों को भी क्षण भर में काट डाल सकता है और दीन हीन से तीन लोक के प्रभुत्व के सिंहासन पर बात की बात में आसीन और प्रवीण बनसकता है आत्मा से परमात्मा हो ले सकता है। अहो देखो इस आत्मा के बल की अचिन्त्य महिमा जो कि अपने आपे में आकर उस पर जम रहने से चिरसंचित कर्मों के अभेद्य किले को एक अन्तर्मुहूर्त में ही तोड़ फोड़ कर स्वतन्त्र साहंसाह बन जाता है। दुनियांदारी का खाना पीना वगेरह कोई-सीधा से सीधा काम भी क्या इतना शीघ्र सम्पन्न हो सकता है क्या ? जितना कि शीघ्र स्वरूपोपलब्धि का काम हो सकता है। फिर भी यह दुनियांदारी का भोला प्राणी अपने इस सहज काम को ठीक न मान कर बाहर के श्रमदायक कार्यों को ही सरल समझ बैठा है यही तो इसकी नादानी है। इसी से परतन्त्रता मे जकड़ा हुवा है अगर अपनी समझ को ठीक करले तो फिर इस जन्ममरणादि के दुःख से छूट कर सदा के लिए पूर्ण-सुखी बनजा सकता है। अस्तु। चेतनागुण के धारक इस आत्मा का नाम जीव १ उससे उलटे स्वभाव वाला

अजीव २ जीव की अजीव के साथ अपरोशका नाम आश्रव ३ दोनों में परस्पर मेल होलेने का नाम बन्ध है ४ जीव अजीव के साथ अपरोश दिखलाना छोड़ देवे उसका नाम सम्वर ५ ताकि वह अजीव इस जीव से क्रमशः दूर होने लगे उसका नाम निर्जरा और अजीव से जीव सर्वथा छुटकारा पाजावे उसका नाम मोक्ष है इस प्रकार ये सात तत्व कहलाते हैं मतलब यह कि आत्मा को अपने भले के लिये इन सातों का जानना आवश्यक है।

मूलंसुधीन्द्राश्चिदचिद्‌द्वयन्तु द्वयोरवस्थाअपराः श्रयन्तु ॥
चिदात्मकंचेतनपर्ययन्तद्‌द्वयात्मकंपौद्‌गलिकंचसन्तः ॥१८॥

अर्थात्— उन सातों तत्वों मे से जीव और अजीव ये दो तो मूल भूत तत्व हैं ही बाकी के पांच तत्व इन दोनो की संयोग सापेक्ष अवस्थारूप हैं अत एव ये पांचो, द्रव्य और भाव के रूपसे दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। भाव तत्व तो सम्वेदन रूप चेतन परिणाम और उस के द्वारा सम्वेदन मे लाने योग्य जो द्रव्यतत्व है वे पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम होते है ऐसा सन्त पुरुष कहते है। जैसे की जीव के राग द्वेष रूप परिणाम का नाम तो भावाश्रव और उसके निमित्त से पुद्‌गल वर्गणावों का कर्मरूप मे परिणत होजाना सो द्रव्याश्रव है। उन कर्मों में आत्मा को परतन्त्र बनाकर रखने रूप शक्ति का नाम द्रव्य बन्ध और उनके द्वारा आत्मा की

परतन्त्र परिणति का नाम भावबन्ध है। शमदमाश्रित आत्मोपयोग का नाम भावसम्वर और उसके निमित्त से आगामी के लिये पुद्गल परमाणुवों के कर्मत्व रूप परिणमन में ह्रास आजाने का नाम द्रव्य सम्वर है। क्रमशः आत्मीक शक्ति के विकाश का नाम भावनिर्जरा और भूतपूर्व कर्मोंकी कर्मत्वशक्ति में ह्रास होते चले जाने का नाम द्रव्य निर्जरा है। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता का नाम भावमोक्ष और उसके कार्मण स्कन्ध का पूर्णरूपेण अकर्मण्यता पर पहुंच जाना सो द्रव्यमोक्ष कहलाता है। अस्तु। यहां पर प्रसगवश आत्मा और कर्मको ही वारबार दोहराया गया है सो आत्मा तो चेतनायुक्त जीव द्रव्य को कहते हैं जैसा कि पहले बता ही आये हैं वे आत्मायें संख्या मे अनन्त होकर भी एक प्रकार से तीन भागों में विभक्त होसकती हैं वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा जो कि शरीर को ही आत्मा समझ रहा हो-आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हो वह जीव तो वहिरात्मा होता है। जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता हो,शरीर में होकर भी शरीर से अपने आप को भिन्न मानता हो, फिर भी शरीर से सम्पर्क लिये हुये हो वह अन्तरात्मा होता है। परन्तु जो निरीहता पूर्वक शरीर से पृथक् होकर अशरीरी बनचुका हो वह परमात्मा कहलाता है।

कर्म का विवेचन—

आमतौर से उत्क्षेपण अवक्षेपण वगैरह परिस्यन्दात्मक क्रिया को कर्म कहा जाता है जो कि निरे अचेतन पदार्थ में भी

होता है जैसे कि सूका काष्ट ईंट वगेरह भी कभी अपने कारणकलाप को पाकर इधर उधर हो जाता है सो उससे यहां पर कोई प्रयोजन नही है। तथा निरीह आत्मा की जो चेष्टा होती है जैसे कि मुक्त होने ही यह आत्मा उपर को गमन कर लोकान्त तक जाती है उसको भी यहां नही लिया गया है। यहां पर तो इच्छावान् आत्मा की चेष्टा होकर उसके द्वारा जो सूक्ष्म पुद्गल परमाणु समूह उसके साथ मिलकर उसको दुःखी सुखी बनाने में सहयोग कारक होते है उनको कर्म कहाजाता है और उस आत्मा को उन सब का कर्ता सो ही नीचे के वृत्त मे बताया जा रहा है—

इदं करोमीतितु जीवनर्म विकल्पवुद्धौ क्रियते च कर्म ।
द्वयोरवस्थानुकलत्रकल्पामिथः मदाधारक धार्य जल्पा ।२६।

अर्थात्— मैं खाता हूं, पीता हूं, सोता हूं, मै मारता हूं, काटता हूं, पीटता हूँ इत्यादि विकल्प मे पड़ कर इस आत्मा का जो राग द्वेष रूप परिणाम होता है उसका करने वाला अगर वस्तु स्थिति पर विचार करके देखा जावे तो यह आत्मा ही है दूसरा कोई भी नही है। यद्यपि वाह्य पदार्थ इसमें निमित्त जरूर बनता है फिर भी उस भाव के होने देने और न होने देने का उत्तरदायित्व इस जीवात्मा पर ही है । जैसे मानलो कि एक जीमनवार में एक साथ तीन आदमियों को कोई भोजन परोसा गया और उसके खाने की प्रेरणा भी की

गई-उसके खाने के लिये उन तीनों ही का ध्यान भी वहां आकर्षित किया ग या। परन्तु इनमे एक आदमी तो बुभुक्षित था वह रुचि से उसे खाने लगा दूसरा जिसे अजीर्ण सा हो रहा था उसन कुछ ना कुछसा खाया। परन्तु तीसरा जिसे कि उसके खाने का त्याग है तो अतिशयरूप से आग्रह करने पर भी उसने उसे बिलकुल नही खाया। भूख होने और भोजन सम्मुख मे होने पर भी उसके खाने का उसने भाव नही किया अतः मानना होगा कि अपने परिणामों को खोटे और चोखे करने वाला यह आत्मा ही है जैसा कि श्री समयसार जी में भी लिखा है कि-'जंकुणइभाव मादाकत्ता सोहोदितस्सभावस्स'

अर्थात् - यह आत्मा अपने भाव को भला या बुरा आप बनाता है अतः यही उसका कर्ता और जो जैसा भाव इस से बनता है वह भाव इसका कर्म यानी कार्य है एवं यह आत्मा जैसे भाव करता है उसी के अनुसार कर्मवर्गणा कर्म रूपमें आकर इसका साथ देती हैं अतः वे भी इसी की की हुई यानी कर्म कहलाती हैं क्यों कि भाव और भावी मे अभेद होता है इसलिये जो जिसके भावसे हुवा वह उस भाववानसेही हुवा ऐसा कहने में कोई दोप नही ताकि भाव से जो हुवा वह भाववान पर ही फलता है। इस प्रकार कर्म और जीव में परस्पर औरत तथा मरद का सा नाता है कर्म संग्राह्य हैं और जीव है सो संग्राहक होता है। किंच औरत अगर भलेरी हो तो उसे मरद के विचारानुसार चलना पड़ता है, मरद को भी उस

का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है । देखो श्रीपाल और मदनसुन्दरी के कथानक को । श्रीपाल ने मदनसुन्दरी से कहा कि मैं परदेश जानेका विचार करता हूं तो मदनसुन्दरी ने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूंगी आपकी सेवा करती रहूँगी ! परन्तु श्रीपालने कहा कि नही वल्कि तुमको यहीं रहना चाहिये और अम्बाजी की सेवा करना चाहिये । मैं बारह वर्षमें वापिस आकर तुमको अवश्य सम्भाललूंगा । मदनसुन्दरी को मानना पड़ा किन्तु श्रीपाल को भी उसका विचार मनमें रखना पड़ा ताकि बारह वर्ष होने में दो चार दिन बाकी रहे तो अपने पासवाले लोगों से उन्होने कहा कि अब हमें हमारे देश चलना पड़ेगा क्योंकि मदन सुन्दरी से किये हुये वादे का दिन सन्नि-कट आगया है एवं ठीक समय पर वहां जा पहुंचे थे । वैसे ही जीव के परिणामानुसार कार्माणवर्गणावों को परिणमन करना पड़ता है तो जीव को भी अपने किये कर्मके वश होकर चलना पड़ता है । जैसा कि श्री समयसार जी में ही लिखा हुवा है । देखो कर्तृकर्माधिकार में—

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गलापरिणमन्ति ।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जोवोवि परिणमई ॥८०॥

शङ्का— आपके कहने का तो अर्थ होता है कि जीव अपनी जवरदस्ती से पुद्गल परमाणुवों को कर्म रूप बनाता है किन्तु समयसार जी मे तो लिखा है कि जब जीव के परिणाम कषायरूप होते है उस समय पुद्गल परमाणुये

अपने आप ही कर्मरूप होजाती हैं जैसा कि —

जंकुणइ भाव मादाकत्ता सोहोदितस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदेतह्निसयं पुग्गलं दव्वं ॥ ६१ ॥

इस गाथा में लिखा है कि जैसे सूर्य उदय होता है उस समय कमल वन अपने आप ही खुल उठता है वैसे ही जीव जब राग द्वेपमय बनता है तो पुद्गल वर्गणायें भी स्वयमेव कर्मरूप बनजाती हैं। जीव वहां कुछनही करता उत्तर — जीव कुछ नही करता यह कैसे कहा वह अपने भावों को राग द्वेष रूप तो करता ही है उसीसे कर्मवर्गणा कर्मरूप बनती हैं। हां जीव ऐसा नही करता कि मैं मेरे इन राग द्वेष परिणामों से अमुक परमाणुवों को कर्मरूप करू' और अमुक को नहीं करू' परन्तु वहां जो अनेक जाति की पुद्गलवर्गणायें हैं उन मे से जीव के रागद्वेप से कर्मवर्गणायें ही खुद कर्मरूप में आपाती हैं जैसे कि एक मन्त्र-साधक भाई अपने स्थान पर बैठा बैठा ही मन्त्र का ध्यान करता है और जाप देता है ऐसा विचार करके कि अमुक की कैद छूट जावे वा अमुक का विप उतर जावे तो वह कैदी के पास जाकर उस की कैद दूर नही करता परन्तु दूर बैठे ही उसके ध्यान के प्रभाव से अनेक कैदियों में से उसी कैदी की कैद स्वयं छूट जाती है। स्वयं शब्द का अर्थ इतना ही है जैसा कि इसी गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने बताया है। इसके बदले ऐसा अर्थ लगाना कि साधक के ध्यान ने कुछ नही किया।

विना उसके ध्यान के कैदी यो ही छूट गया तो यह गलत अर्थ है। वहां पर उसके ध्यान का पूरा प्रभाव होता है वैसे ही कर्मवर्गणावो पर भी जीव के कषाय भाव का प्रभाव होता है ऐसा जैन सिद्धान्त कहता है।

देखो एक फोटोग्राफर अपने कैमरे मे फोटो लेता है तो जो आदमी उस कैमरे के सामने में जैसी अपनी चेष्टा बना कर बैठता है वैसी ही उसकी उस कैमरे में परछाई पड़ती है अतः वैसा ही उस कैमरे में फोटो आता है वैसे ही यह जीव जैसे भी अपने कषाय भाव करता है वैसा ही उसका प्रभाव कर्म वर्गणावों पर पड़ता है अतः वैसी ही सुख दुःख वगैरह देने की शक्ति उनमें आती है ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है।

शङ्का— आपके कहने में तो एक द्रव्य अपने प्रभाव से दूसरे द्रव्य को चाहे जैसा भी बना सकता है हमने तो सुना है कि कोई भी द्रव्य किसी द्रव्य मे कुछ भी नहीं कर सकता।

उत्तर—एक दूसरे को चाहे जैसा बना सकता है सो बात तो नहीं परन्तु एक दूसरे के लिये किसी भी हालत में कोई कुछ भी नहीं करता ऐसा भी जैन मत नहीं कहता। हमारे यहां तो कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणो को अपने प्रभाव से कभी नहीं बदल सकता जैसे कि जीव पुद्गल के साथ मिल कर उसको चेतन या रूपादि रहित कभी नहीं कर सकता तो पुद्गल भी जीव के साथ होकर उसको जड़ या रूपादि

भाव कर देवे सो नहीं हो सकता परन्तु एक दूसरे के प्रभाव में आकर उनका उचित विकार रूप परिणमन जरूर होता है जैसा कि समयसार जी में ही बतलाया है देखो—

णविकुव्वदिकम्मगुणे जीवो कम्मंतहेव जीव गुणे ।

अण्णोण्णणिमित्तेणदुपरिणामंजाण दोण्हंपि ॥८२॥

जैसे अग्नि और हवा इन दोनों का परस्पर संयोग होता है तो हवा के द्वारा अग्नि प्रज्वलित होती है और वही अग्नि हवा को अपने संयोग से उष्ण बना देती हैं यह इन दोनों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है वैसे ही पूर्व कर्म के उदय से जीव रागादिमान् होता है और उस जीव की रागादिमत्ता से ही आगे के लिये पुद्गल परमाणुयें कर्मभाव को प्राप्त होती हैं ।

शङ्का— तब तो फिर किसी की भी मुक्ति हो ही नही सकेगी क्यों कि कर्मों का उदय तो सदा से सबके लगा ही हुवा है

उत्तर— कभी भी मुक्ति नही होगी सो नही - किन्तु जब तक यह जीव अज्ञान भाव को लिये हुये रहेगा तब तक मुक्ति नही होगी । यहां अज्ञान का अर्थ न जानना नही है क्यों कि न जानना तो किसी भी जीव में है ही नही । चाहे कोई थोड़ा जाने या बहुत,ठीक जाने या बेठीक,जानता तो है ही । जानना तो जीव का लक्षण ही है वह उससे दूर नही हो सकता । परन्तु पर को अपना और अपने को पराया मानते रहने का नाम अज्ञान है और यह अज्ञानभाव जब तक इस जीव के साथ लगा रहेगा तब तक यह जीव कर्मबन्ध को कर्ता ही रहेगा

जैसा कि श्री समयसार जी में ही लिखा है—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पियपरं किरन्तो सो।
अण्णाणमवो जीवो कम्माणंकारगोहोदि ॥ ६२ ॥

शंका— यह अज्ञान भी तो कर्मोदय से ही होता है फिर कैसे मिटेगा !

उत्तर— कर्मों का उदय दो तरह का होता है एक अप्रशस्तोदय दूसरा प्रशस्तोदय, सो जैसा उदय होता है वैसा वाह्य समागम होता है अतः जब शस्तोदय हो और उससे सत्समागम हो तो उन सन्तों को अपने मानकर जैसा वे कहैं कि भैय्या यह संसारका ठाठ असार,क्षणिक है। यह शरीर भी जो कि आत्मा को कर्मोदय से प्राप्त हुवा है, चौले के समान इससे भिन्न है, नश्वर है इसमें निवास करनेवाला आत्माराम जिसने कि इसे धारण कर रक्खा है,भिन्न है,शाश्वतचेतनावान है। शरीर जड है अतः इस पर तुमको नही रीझना चाहिये इस प्रकार के उनके कहने को मानले तो मोक्षनगर की डगर पर आसकता है फिर मोक्ष सुलभ ही है रास्तेपर लगा हुवा आदमी धीरे या कुछ देरी से स्थान पर पहुंच ही जाता है।

शङ्का— यह क्यों कहा कि उनके कहने को यदि वह मानले ? जब कि उनके कहने को मानने रूप कर्म का उदय होगा तो मानेगा ही क्यों नही ?

उत्तर— मानना किसी कर्म के उदय से नही हुआ करता परन्तु वह तो उसकी रुचि का कार्य है। मानलो कि एक आदमी के

दो स्त्री हैं एक सुमति और दुर्मति। सुमति कहती है कि आप सुलफा गांजा पीते हो सो अच्छा नही है वह कलेजे को जलाता है और बुद्धि को बिगाड़ता है अगर इसके बदले में आप दूध पीया करो तो अच्छा हो इत्यादि, तो उसके कहने को वह सुना अनसुना करदेता है तथा उस स्त्री से दूर रहने की भी शोचता है। दूसरी बोलती है कि आदमी को नसा करना और मस्त रहना चाहिये, जो किसी भी तरह का नशा नही करता वह आदमी ही क्या इत्यादि,तो उसके इस कहनेको वह मन लगा कर सुनता है एवं उस स्त्री को ही भली भी समझता है। इसका कारण यही कि उस आदमी की मानसिकवृत्ति नसे की ओर झुकी हुई है। इसका कोई क्या करे यह तो उसीके विचार का कार्य है। अगर वह चाहे तो सुमति के कहने को दिल से तोल सकता है कि ठीक तो है। दूध पीनेवाले लोग सब भले और चंगे हैं मगर मेरेपास आने वाले मेरे यार-दोस्त गंजेड़ी भंगेड़ीलोग बातून और आतताई वगेरह हैं। ऐसा शोचे तो वह आगेके लिये नशा करना छोड़ सकता है या उसे कम तो जरूर ही कर देता है वैसी ही इस संसारी जीव की बात है। अगर यह चाहे तो सन्तों की बात पर गम्भीरता से विचार कर,उसे हृदयमें धारण करले ताकि उत्तर कालमें उदय आने वाले मोहनीय कर्म को कमसेकम एक अन्तर्मुहूर्त के लिये दबादे, उदय में न आने दे, उसे सफल न होने देवे तो राग द्वेष रहित हो कर कर्मबन्धन की शृंखला को तोड़ सकता है। अन्यथा तो फिर जहां कर्म का

उदय होगा वहां जीव मे राग द्वेष अवश्य पैदा करेगा और राग द्वेष होंगे, वे आगामी कर्म बन्ध जरूर करगे बीज से वृक्ष और वृक्ष से फिर बीज इस प्रकार सन्तान चलती ही रहेगी उसका कभी अभाव नही होगा। यही बात आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामीजी–अण्णोण्णणिमित्तेणदुपरिणामं जाणदोह्व'पि इस गाथा में बतलागये है मतलब यह कि स्वामी जी अपने इस वाक्य द्वारा— निमित्त करण की प्रवलता स्पष्ट कर दिखला गये है। और वतला गये हैं कि निमित्त न हो तो कार्य नही होता, निमित्त के द्वारा ही कार्य होता है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चरित्र अपने मिथ्यापन को त्याग कर सम्यक् बन जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन नष्ट होते ही वे दोनो वापिस मिथ्या हो जाते है। ऐसा हमारे सभी आचार्यों ने वतलाया है यह निमित्त की ही तो महिमा है। फिर भी कुछ लोग— निमित्त न हो तो कार्य नही होता ऐसा मानना मिथ्या है इस प्रकार कह कर लोगों को चक्कर में डालना चाहते है यह कितना बड़ा दुःसाहस है, हम नही कह सकते। हम देखते हैं कि अन्धेरी कोठरी में दीपक जलते ही प्रकाश हो जाता है और उसके बुझते ही वापिस अन्धेरा का अन्धेरा हो रहता है इसी लिये तो अन्धेरे में काम न कर सकने वाला आदमी दीपक जला कर अपना काम करता है वह जानता है कि यहां पर दीपक के बिना अन्धेरा नही मिट सकता सो क्या यह गलत बात है, वलिहारी हो इसे मिथ्या वताने वालों की। छत्ता तागते

ही छाया होती है और उसे बन्द करते ही वापिस घाम का घाम इत्यादि दुनियां के सभी कार्य अपने अपने निमित्त कारण के द्वारा होते हुये देखे जाते हैं फिर भी ऐसा कहना कि छाया छत्ते से नही किन्तु वहां के उन परमाणुओं की योग्यता से ही होती है यह कहना वैसा ही हुवा जैसा कि ईश्वर कर्त्टवादी लोग कहा करते हैं कि स्टाष्टि के सभी कार्य अपने कारण कलाप से नही होते किन्तु ईश्वर के किये होते हैं। हमारे आचार्यों ने तो, हमारे आचार्यों ने ही नही बल्कि सभी तर्क वादियों ने बताया है कि जो जिसके होने पर हो ही जावे और जिसके न होने पर जो न हो सके इस प्रकारका अन्वयव्यतिरेक जिसका जिसके साथ हो वह उसी का कार्य होता है। जबकि जीव रागादिमान् होता है तो कर्म जरूर बनते हैं और वीत-रागी होनें पर कर्म नही बनते अतः रागादिमान् जीव ही कर्मों का कर्ता और उसके कार्य है कर्म यह ठीक बात है तथा वे सर्व कर्म इस जीवात्मा के द्वारा दो दृष्टियों को लेकर किये जाते हैं अतः दो प्रकार के होते हैं सो ही नीचे बताते हैं—

पापँतुदेहात्मतयाक्रियेत पुण्यँतदन्तर्गतयाश्रियेतः।
अज्ञानसँचेतनिकेतिवृत्तिरूपर्यतोज्ञानमयीप्रवृत्तिः ॥२०॥

अर्थात्— यद्यपि हमारे यहां कर्म शब्द से उन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुवों को कहा जाता है जो कि जीव के राग द्वेष भावों के द्वारा जीव के साथ एकमेक होकर रहते हो परन्तु उन

का समागम जीव के साथ इसकी मन वचन और काय की चेष्टा के द्वारा ही होता है अतः कारण में कार्य का उपचार करके उस चेष्टा को भी कर्म कह सकते है। और उसके करने में इस आत्मा की दो तरह की भावना हुवा करती है। एक तो शरीरको और आत्मा को एकमेक मानते हुये वहिरात्मा-पन के द्वारा जैसे कि मैं खालूं, पीलूं, सोलूं एवं अपने आपको मोटा ताजा बनालूं इत्यादि रूपमें। दूसरी वह जो शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हुये अपने भले के लिये। जैसे भगवान का भजन करलूं, गुरुवों की सेवा करलूं, व्रत-उपवास करलूं इत्यादि रूपमें। पहलेवाली वासना से किया हुवा कर्म पापकर्म कहलाता है क्यों कि वह इस आत्मा को संसार में ही पछाड़े हुये रहता है किन्तु दूसरी वासना से किया हुवा कर्म इसको पवित्रता की ओर लेजाने वाला होने से पुण्य कर्म होता है। कभी कभी वहिरात्मा जीव भी ईश्वरोपासना सरीखी चेष्टा किया करता है परन्तु वह उसकी चेष्टा अनात्मवृत्ति को ही लियेहुये होती है अतः वह अपुण्य कहलाता है। इसी प्रकार अन्तरात्मा जीव भी कभी कहीं खाना पीना वगैरह शरीरानुविधायिकार्य करता है किन्तु वह अनतिवृत्तितया नरकादि का कारण न होने से अपाप कर्म कहलाता है। स्पष्ट रूपमें चतुर्थगुण स्थान से नीचेवाले की चेष्टा का नाम पाप और उससे उपर जहां तक सराग चेष्टा रहे उसका नाम पुण्य है ऐसा समझना चाहिये। एवं यह दोनों ही प्रकार की

चेष्टायें परावलम्ब को लिये हुये होती हैं अतः अज्ञान चेतना-मयी होती हैं क्यों कि इन दोनों में ही- अधिक हो या हीन किन्तु ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का वन्ध इस जीव के होता ही रहता है। हां इससे उपर चलकर जहां पर पापवन्ध और पुण्य वन्ध दोनों प्रकार के वन्ध को करने वाले अशुभ एवं शुभ दोनों तरह के भाव से विलकुल रहित पूर्ण वीतरागदशा हो करके इस आत्मा की एकान्त आत्मनिमग्न वृत्ति हो लेती है, उसका नाम ज्ञान-चेतना है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्र सूरि ने समयसारकलशा में लिखते हैं -

रागद्वेष विभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामि समस्त कर्म विकला भिन्नास्तदात्वोदयात्
दूरारूढचरित्रवैभवबला चञ्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्त भुवनां ज्ञानस्य संचेतनां

भावार्थ— जो सर्वथा राग द्वेष रूप विभाव से रहित होकर स्वभाव को अखण्डरूप से प्राप्त कर चुके, भूतभावि और वर्तमानकालीन कर्मोदय से दूर हो लिये, समस्त परद्रव्यके त्याग स्वरूप दृढतर चारित्र के वल से प्रकाशमान चैतन्य ज्योतिवाली और अपने सहजभाव से विश्वभर में व्याप्त होनेवाली ऐसी भगवती ज्ञान चेतना का वे ही अनुभव करते हैं वेही उसे पाते हैं। वाकी के उससे नीचे के जीव तो अज्ञान-चेतनावाले होते हैं वह अज्ञान-चेतना, कर्मफल चेतना और कर्म चेतना के भेद से दो भागों में विभक्त होती है जिसमें से-

संचेत्यतेयावदसंज्ञिकर्म–फलंशरीरीपरिभिन्नमर्म ।
यतोनहिज्ञानविधायिकर्मकनुं तदाप्रोत्सहतेऽस्यनर्म ॥२१।

अर्थात्— निगोदियाएकेन्द्रिय जीव की अवस्था से लेकर असंज्ञि पञ्चेन्द्रिय की अवस्था तक तो यह शरीरधारी जीव अपने किये हुये कर्मो के फलको ही भोगता रहता है। उस समय तो यह अपने मर्मभेदी कर्मो का सताया हुवा इतना बेहोश रहता है कि आत्मकल्याण के मार्ग की ओर इसकी रुख ही नही हो पाती है। मैं भी एक जीव हूं मुझे भी अपने आत्महित के लिये कुछ तो करना ही चाहिये ऐसा विचार भी नही होता। जैसे कि एक नशेवाज आदमी अपने किंये हुये नशे का सताया, बेकार हो कर तड़फड़ाया करता है।

संज्ञित्वमासाद्य तदुद्गमस्तु शरीरिणश्चात्महितैकवस्तु ॥
एकास्ति लब्धिदुंरितस्यताद्दक्-क्षयोपशान्तिर्यत आप्यतांद्दक् ॥

अर्थात्— जब उस नशेवाले का नशा कुछ हलका पड़ता है तो वह विचारता है कि देखो मैं कैसा पागल होगया कि मुझे जो अमुक काम करना था, गैय्या के लिये घास काटकर लाना था या और कुछ करना था सो अभी तक नही हुवा अब वह मुझे करना चाहिये इत्यादि। वैसे ही जब यह जीव संज्ञिपन को प्राप्त कर पाता है, इसके अन्तरंग मे कर्मचेतना का प्रादुर्भाव होता है शोंचता है कि मुझे यह भूख प्यास क्यों

लगती है, थकान क्यों होती है ताकि मुझे बार बार कष्ट उठाना पड़ता है यह भी एक प्रकार का रोग ही है, तो क्या इसके मिटने का भी कोई उपाय है ? अगर है तो मैं वही करूं इत्यादि कर्तव्य पर विचार आने का नाम कर्म चेतना है जो कि संज्ञिपन के होने पर ही हो सकता है । और संज्ञिपन की प्राप्ति कर्मों के क्षयोपशम से होती है । अतः इस प्रकार के विशेष क्षयोपशम का होना सो एक लब्धि है जिसके कि होने से इस आत्मा को अपने हित की तरफ दृष्टि हो ले सकती है ताकि फिर वह—

गत्वागुरोरन्तिकमेतदाज्ञां, लब्धामयेयंमहतोऽपिभाग्यात् ।
सुधामिवेत्थंसपिपासुरस्तु, सम्यक्त्वहेतोः समुदायवस्तु ॥ २३

अर्थात्—पियासा आदमी कुवे की भांति, किसी सन्मार्ग प्रदर्शक गुरु की खोज करता है एवं उसके पास पहुंचता है और उसकी जो कुछ देशना होती है उसको बड़े ध्यान से सुनता है विचारता है कि आज मेरा बड़ा ही भाग्योदय है ताकि मुझे इन सद्गुरु की वाणी सुनने को मिली। जैसे कि पियासे आदमी को अमृत मिलजावे तो वह उसे पीता पीता नही अघाता वैसे ही यह भी गुरुमहाराज के सदुपदेश को रुचि के साथ ग्रहण किया करता है । इसका नाम देशनालब्धि है जो कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में से एक परमावश्यक वस्तु है। अन्धकार को हटाने के लिए सूर्य की प्रभा के समान है।

शङ्का—क्या गुरु के विना ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान तो आत्मा का गुण है उसकेलिए गुरु के होने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—ठीक है ज्ञान तो आत्मा में ही है परन्तु उसकी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व अवस्था गुरु बिना नहीं हो सकती जैसे कि बन्द होगया हुवा ताला, चावी के विना नहीं खुल सकता, चावी के द्वारा ही खोला जा सकता है।

शंका—श्रीतत्वार्थसूत्र जी में बतलाया है कि तन्निसर्गादधिगमाद्वा, अर्थात्- वह सम्यग्दर्शन गुरूपदेश से भी होता है-और किसी को अपने आप भी।

उत्तर - उक्त सूत्रका अर्थ तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन अपने स्वभाव से भी और गुरूपदेश से भी इन दोनों ही बातों के होने से होता है दोनों में से एक भी न हो तो नही होसकता। जैसे कि पक्षी, आदमी की बोली सिखाने से सीखता है किन्तु सखाने से भी तोता ही सीख सकता है, बगुला नही सीख सकता वैसे ही सम्यग्दर्शन होता है श्री गुरु की वाणी के सुनने से किन्तु होता है आसन्नभव्य को, अभव्य को नही होता। देखो श्री आदिपुराण जी मे महाबल (वज्रजंघ) के जीव भोगभूमियां को सम्यग्दर्शन ग्रहण कराने के लिये श्री मुनिराज भोगभूमि में चला कर गये थे अगर अपने आप ही सम्यग्दर्शन होजाता होता तो उन मुनि महाराज को वहां जाने की फिर क्या आवश्यकता थी।

शङ्का— हमारे शास्त्रों मे बतलाया है कि स्वयम्भूरमणद्वीप में होनेवाले तिर्यञ्च भी पञ्चम गुण स्थानी हो जाते है सो वहां गुरुसमागम कहां है वहां सम्यग्दर्शन कैसे हुआ?

उत्तर— एक बार गुरुसमागम होनेसे जिसे सम्यग्दर्शन होकर छूट गया ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि के लिये गुरु समागम का अनिवार्य नियम नही है एक बात तो यह है। और दूसरी बात यह कि मनुष्य तो नही किन्तु सम्यग्दृष्टि देव तो वहां जासकते हैं सो वे जाकर उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करा दे सकते हैं। अन्यथा तो फिर उन्हे सम्यग्दर्शन की भांति ही श्रावक के बारह व्रतों का भी पता क्या और कैसे हो सकता है। अगर कहाजावे कि जातिस्मरण से पूर्व जन्म याद आकर हो सकता है तो फिर ठीक ही है उन्हे उनके पूर्वजन्म के गुरु का उपदेश ही तो कारण हुवा।

शङ्का— यदि ऐसा माने की गुरु आये इस लिये श्रद्धा हुई तो गुरु कर्ता और शिष्य को श्रद्धा हुई इस लिये वह उनका कार्य हुवा इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता कर्मपना आजावेगा (वस्तुविज्ञानसार पृ० ३६ पं० २१-२२-२३)

उत्तर— दो द्रव्यों के कर्ता कर्मपना आजायेगा इसमें क्या हानि होगी, हमारे आचार्योने तो निमित्तिनैमित्तिक रूपमें एक को दूसरे द्रव्य का कर्ता और उसकों उसका कर्म तो माना ही है देखो श्री कुन्दकुन्द ने ही समयसार जी में लिखा है कि—

अण्णाणमवोभावो अणाणिणो कुणदितेण कम्माणिइति।

सो श्रीमान् जी निमित्त के नाम से आपको क्यों इतनी चिढ़ है यह हम अभी तक नही समझ सके, हमारे आचार्यों ने तो विशेष कार्य को निमित्त विशेष के द्वारा ही निष्पन्न होता हुवा बतलाया है। अस्तु। देशना प्राप्त करने के बाद वह जीव क्या करता है सो बताते हैं—

कुतोजनिमृ त्युरयंचकस्मात्याच्चापिमुक्तिर्मम दुःखतोऽस्मात्,
एतादृगुत्साहिविचारदब्धिरुदेतिचित्तेऽस्यविशुद्धिलब्धिः २४

अर्थात्— गुरुदेव की वाणी को अवधारण करने से उस भव्यात्मा के चित्त में इस प्रकार विचार होने लगता है कि अहो देखो मैं सच्चिदानन्द होकर भी किस तरह से इस जन्म-मरण के चक्कर में फंस रहा हूँ जैसे कि एक राजकुमार किसी भङ्गिन के साथ में लगजावे तो फिर उसके प्रेमके वश होकर उस राजकुमार को भी पाखाने की कोठरी में घुसना पड़ता है। वैसे ही कर्मसेना के साथ में मैं हो रहा हूं इसी लिये मुझे यह शरीर ग्रहण करना पड़ा है। और जब वह भङ्गिन एक पाखाने से दूसरे पाखानेके लिये प्रस्थान करे तो वह राजकुमार शोचता है कि अब कहीं इससे भी अधिक दुर्गन्धित जगह में न जाना हो जावे इस भय से वहां से निकलने को आगापीछा ताकने लगता है वैसे ही अज्ञानी जीव भी इस शरीर को छोड़ना नही चाहता और जब इस शरीर के छूटने की सुनता है तो कांपता है इसी का नाम मरण है। बस इसी का नाम

जन्म मरण का दुःख है जो कि इस जीव को भोगना पड़ रहा है। तो फिर इसका मतलब यह हुवा कि मैं अगर इस दुःखसे मुक्त होना चाहता हूं तो कर्मचेष्टा से ही मुझे परे होना होगा इसे ही तिलाञ्जलि देनी होगी तभी काम बनेगा इस प्रकार की विचारधारा से जो इस भव्य जीवके चित्तमें कोमलता आजाती है उसका नाम विशुद्धि लब्धि है। फिर इसके बाद मे—

तेनामृतेनेवरुगस्तु पूर्वार्जितो विधिः शीतहतस्तरुर्वा ।
स्थितिः किलान्तर्गत कोटि कोटि-मीर प्रमाणाप्यमुतोनमोटी
हीनोऽनुभागोऽपि भवेत्तदेति प्रायोगिकालब्धिरमावुदेति
अनेकवारं पुनरित्यथेष्टा समस्ति संसारिण एव चेष्टा ।२६।

अर्थात् जैसे कि अमृत पीने से रोग उपशान्त बन जाता है या शीत का सताया गाछ खंखर हो जाया करता है वैसे ही उपर्युक्त विचार के द्वारा इस जीवके पूर्वोपार्जित कर्म भी कमज़ोर बन जाते हैं उनकी जो सत्तर कोडाकोड़ी सागर प्रमाण तक की स्थिति थी वह घटकर अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण वाली रहजाती है औरअनुभाग भी कम होजाया करता है एवं उस समय आगे केलिये बन्धने वाले कर्मों की भी स्थिति अन्तः कोडाकाडी सागर से अधिक नही होती बस इस ऐसी परिस्थिति का नाम ही प्रायोगिका लब्धि है । यह यहां तक की वर्णन की हुई चेष्टा इस संसारी जीव की अभव्य तक

की भी अनेकवार हो जाया करती है परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति नही हो पाती । क्यो कि यह सब सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये अविकल कारण न हो कर विकल कारण है । इन सबके साथ साथ कुछ बात और भी है जिसकाकि होना भी सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिये जरूरी है जो कि आगे बताई जा रही है—

चेत्पुद्गलार्द्ध:परिवर्तकालोऽवशिष्यतेऽनादितयाशयालोः
.। ‿ ंब्धि युजोजनस्य क्षणोभवेज्ञागरणायशस्यः ।२७।

अर्थात्—अर्द्धपुद्गल परिवर्तन यह एक जैनागमसम्मत-पारिभाषिक शब्द है जो कि काल विशेष का नाम है जिसमें असंख्यात कल्पकाल बीत जाते है और बास कोडाकोडी सागर का एक कल्पकाल होता है । दो हजार कोश गहरे और दो हजार कोश चोड़े लम्बे गढ्ढे मे कैंची से जिनका दूसरा भाग न हो सके ऐसे मैंढे के बालों को भरना जितने वाल उसमें समावें उनमे से सौ सौ वर्ष बीतने पर एक एक बाल निकलना तो वे सब निकल चुके उतने काल को व्यवहार पल्य कहते हैं व्यवहार पल्य से असंख्यात गुणा उद्धारपल्य और उद्धारपल्य से असंख्यातगुणा अद्धापल्य होता है एव दश कोडाकोडीपल्यों का एक सागर होता है । ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में लिखा हुवा है । अस्तु । यह अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल, मुमुक्षु के संसार परिभ्रमण में से जब कि बाकी रहे जो कि उसके भूतपूर्व परिभ्रमणरूप समुद्रका एक बून्दसमान है इससे अधिक

काल बाकी नही होना चाहिये तो उस समय मे यह अनादि काल का मोहनिद्रा में सोया हुवा ससारी जीव जगाया हुवा जाग सकता है इसी का नाम काललब्धि है इस काललब्धि के होने पर उपर्युक्त चार लब्धियां प्राप्त करके यह जीव सम्यक्त्व ग्रहण योग्य होता है । और नही तो फिर जिसका जिस समय मोक्ष होना है उससे एक मुहूर्त पहले भी मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बन कर कर्मनाशकर वह सिद्ध हो जाता है ।

शङ्का— तब तो फिर समयका ही मूल्य रहा, आत्माके पुरुषार्थ या उपर्युक्त चारलब्धियोंके होनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— जिस समय भी जिस किसी को मुक्ति प्राप्त होगी वह उससे पूर्वमें उपर्युक्त लब्धियों की सहायता से अपने पौरुष को व्यक्त करते हुये सम्यक्त्व लाभ कर क्रमश. उपयोग को निर्मल बनाने से होगी। जैसे मानलो कि दश जीव एक साथ मुक्ति पाने वाले हैं वे दशों ही एकसौ एकसौ वर्ष की अनपवर्त्य आयु लेकर एक साथ ही जन्म भी मनुष्य का ले चुके हैं जिन्होंने कि पहले कहीं सम्यक्त्व नहीं प्राप्तकर पाया है। तो जबतक कि आठ वर्षके नही होंगे उसके पहले तो कोई भी न तो सम्यक्त्व ही प्राप्त कर सकेगा और न मुनि ही बन सकेगा। परन्तु आठवर्षपूर्ण होते ही उन मे से एक तो गुरु के पास पहुंच कर उनके उपदेशलाभ कर सम्यग्दर्शन ग्रहण करके संयमी मुनि भी बन कर कुछ ही देर बाद क्षपकश्रेणी माडकर घाति कर्मों का नाश भी कर के केवल ज्ञानी बन बैठता है। दूसरा उसी समय

या उससे कुछ समयबाद सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मुनि भी बन जाता है किन्तु केवल ज्ञान नही कर पाता, कुछ वर्षो बाद मे केवली बन पाता है। तीसरा सम्यग्दर्शन को तो प्राप्त कर लेता है किन्तु जवान अवस्था तक गृहस्थ अवस्था मे राजपाट भोग कर फिर मुनि बनता है और मुनिबन ने के अनन्तर ही केवली भी बन जाता है। चोथा सम्यग्दृष्टि बन कर कुछ दिन के बाद कुमार्गरत होजाता है मगर फिर वापिस सुधर कर मुनि बन जाता है एवं केवली बन कर मोक्ष पाता है। पांचवां गृहस्थदशा मे तो सम्यग्दृष्टि सुशील रहता है किन्तु मुनि होने के बादमे भ्रष्ट होजाता है सो जाकर अन्त मे वापिस सलट पाता है। छटा अन्त समय तक सद्गृहस्थ रह कर ठीक अन्त समय मे मुनि बनता है और केवल ज्ञानी। सातवां अन्त समय तक भी व्यसनों में फंसा रह कर सिर्फ मरण के एक मुहूर्त पहले सम्यग्दृष्टि और मुनि भी बन कर केवलो भी तभी बन लेता है। इत्यादि रूप से उनमे जो विचित्रता होती है वह उनकी इतर लब्धियों की विशेषता और पुरुषार्थ विशेष के ही तो कारण होती है। अस्तु। काल लब्धि और उपर्युक्त चारो लब्धियो को भी प्राप्त करके जब यह जीव सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तब क्या कुछ होता है सो बताते हैं -

सूर्योदयात्पूर्वमिव प्रभात: सम्यक्त्वत: प्राक्करणाख्यतात:
प्रवर्तते तेन तमोहतिर्वाऽतोऽन्तमुहूर्तान्नादहस्पतिर्वा । २८

अर्थात्— सूर्योदय होनेवाला होता है तो उससे पहले प्रभात होकर उससे अन्धकार फटता है फिर सूर्य प्रगट होता है वैसे ही सम्यक्त्व होने से पहले इस आत्मा का करण नाम का प्रक्रम सुरू होता है जिससे कि मिथ्यात्व मोह कर्म का नाश होकर सम्यक्त्व प्रगट होता है। वह करण तीन तरह से होता है, अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण जिससे कि आत्मा निर्मल, निर्मलतर और निर्मलतम होती है जैसे किसी भी मैले कपड़े को पानी से गीला करके धोया जाता है तो उसका उपरिका कुछ मैल निकल जाता है फिर साबुन लगा कर धोने से उजला निकलता है किन्तु कुछ कमी रहजाती है सो दुबारा साबुन लगाकरके धोने पर वह बिलकुल स्वच्छ होजाया करता है। याद रहे कि मोह कर्म को दर्शनमोह और चारित्र मोह के भेद से दो भागों में बाटा गया है और दोनों ही तरह का मोह नाश होने से स्पष्ट सम्यक्त्व-पूरा खरापन हो पाता है और दोनों ही प्रकार के मोह को नाश करने के लिये आत्मा को उपर्युक्त तीनों करण करने होते हैं। किन्तु उन दोनों तरह के मोह में से दर्शनमोह धूमसे की कारिख के समान चीठदार होता है और चारित्र मोह जो है वह कायलों के संसर्ग से लगी हुई कारिख की तरह साधारण से प्रयास से दूर होजाने वाला है अतः मोह शब्द से प्रधानतया दर्शनमोह ही लिया जाता है और चारित्र मोह को राग द्वेष शब्द से। और दूसरी बात यह भी है कि दर्शनमोह का जब अभाव किया जाता है

तो उसके साथमें आंशिक चारित्रमोह-अनन्तानुवन्धि क्रोधमान माया लोभ का भी अभाव हो लेता है जब कि सम्यग्दर्शन होता है। अतः सम्यक्त्व शब्द से भी अधिकतर सम्यग्दर्शन को ही लिया जाता है जिसके कि साथ अन्यायाभक्ष्य में अप्रवर्तनरूप चारित्र होता ही है। जो कि सम्यग्दर्शन उपर्युक्त परिकर होने से सम्पन्न होता है। आत्मा एक रेलगाड़ी की भांति है जो कि मोक्ष नगर को जाना चाहती है और उसका मोक्ष के सम्मुख रवाना होना सम्यक्त्व है। उसमें काललब्धि तो रेल की पटरी सरीखी है जिसके कि विना रेल नही चल सकती वैसे ही काललब्धि पाये विना सम्यक्त्व भी नही होता क्षयोपसमलब्धि का होना-संज्ञिपने का पाना सो रेल के पहियों सरीखा है जिसके कि होने से आगे बढा जा सकता है। देशनालब्धि सीटी का काम करती है जो कि सुझाव देती है। विशुद्धि लब्धि लैन सफाई का सा कार्य करती है ताकि आगे बढ़ने में कोई रुकावट नही रहे। प्रायोग्यलब्धि कोयला और जल का या वायलर का काम करती है जो कि शक्ति प्रदान करती है किन्तु करणलब्धि चाबी या हैण्डिल का काम करती है जिसके कि घुमानेसे रेल चल ही पड़तीहै। अस्तु। सम्यक्त्व होने पर इस आत्मा की कैसी चेष्टा होती है सो बताते है—

तत्त्वार्थमाश्रद्दधतोऽस्यदूर-वर्तित्वमन्यायपथान्मृदूरः।
जानाति भोगानुरुजिजायुमेल-तुल्यानतोनत्यजतीष्टखेलः ॥२६

अर्थात्— तस्य भावस्तत्वं वस्तु के स्वरूप का नाम तत्व है और उससे जो प्रयोजन सधे, वस्तु के स्वरूप से जो काम निकले उसे तत्वार्थ एवं उस तत्वर्थ का जो श्रद्धान करे उसे माने उसे तत्वार्थश्रद्धानी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव तत्वार्थ-श्रद्धानी होता है। मिथ्यादृष्टि वस्तु के स्वभाव को नही मानता आत्मा के सहज भाव को स्वीकार नही करता और न वह अजीव पुद्गल के ही स्वभाव को समझता है। उसकी तो दृष्टि संयोगीभाव पर रहती है। शरीर सहित चेतन को ही आत्मा यानी जीव और इनदृश्यरूप पुद्गल स्कन्धों को अजीव मानता है। ये कीड़ी मकोड़ा पशु पक्षी देव नारकी और मनुष्य ये तो जीव है तथा ईंट पत्थर चूना वगेरह अजीव हैं बस और कुछ नहीं ऐसा समझता है। अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पृथक् २ पञ्चभूतों के मेल से बने हुये इस सचेष्ट शरीर को ही जीव समझता है। इस लिये यह कीड़ा मकोड़ा या यह मनुष्य मरगया अर्थात् जीव नष्ट हो गया एवं यह जल में मैंडक, गोवरमें दीमक, घृत में गिंडोला और विष्ठा मे गुड़वाणियां कीड़ा पैदा होगया। अर्थात् इनसे ही जीव निपजगया ऐसा मानता है। थोड़ा अगर आगे बढ़ा तो मानता है कि यह शरीर तो मिट्टी का पुतला है और आत्मा रूप रस गन्धादि से रहित एक व्यापक है सर्वत्र है यह भी संयोगी भाव ही हुवा। अथवा परब्रह्म एक है यह सब उसीकी माया है यह भी संयोगी विकारी भाव हुवा इत्यादि

रूप से अतत्वश्रद्धानी बना हुवा है । वस्तु के स्वरूप को और का और माने हुये है । कभी अगर सद्गुरु का समागम हो गया तो उनके कहने को ज्ञान में लेकर कहता है कि यह . . . इत्यादि सब पर वस्तु हैं मै इनसे भिन्न हूँ कर्म जड है, आत्मा में होकर भी आत्मा से भिन्न है, आत्मा मेरी इनसे भिन्न ज्ञानमय है इत्यादि। तब कहीं चेष्टा में अशुभ से शुभ पर भी आता है परन्तु परसंयोग रहित शुद्धस्वभाव पर रुचि नही लाता है। यह भी कहता है कि राग द्वेष मेरा स्वरूप नही है विकार है, मै जीव हूँ चेतना स्वरूप हूँ इस प्रकार सप्ततत्वादि के विचारसे वर्तमान में सरलभाव होता है। किन्तु स्वभाव की महिमा को पकड़ नही पाता संयोगजभाव की ओर ही झुका हुवा रहता है जैसे कि किसी वैश्यावाज को समझाया जाय, कि वैश्या तो घन से दोस्ती रखती है वह तुमसे प्यार नही करती तुम उसके साथमें प्रेममें फंस कर दुख पावोगे अपनी घरू स्त्री जो सच्चा प्यार रखती है उससे मिल कर आराम से रहो तो इस बात को सुन तो लेता है और याद भी रखता हैकिन्तु उस वैश्या की चापलूसीभरी चेष्टा को हृदय पर से नही उतरता है तब तक यह उधर से हट कर अपना कदम इधर नही रखता वैसे ही मिथ्या दृष्टि जीव भगवान वीर की वाणी को सुनता है, उसे ज्ञान में लाता है मगर अपनी पर्याय बुद्धि को दिल पर से नही उतर पाता शौचता है कि अहो यह शरीर न हो तो मैं जप तप संयम कैसे पाल सक्ता हूँ कैसे

अपना भला कर सकता हूं । इस विचार पर नही जम पाता कि मेरा आत्मा भिन्नद्रव्य है और यह शरीर पुद्गल परमाणुवों का पुञ्ज है-इसका मेरे साथ में वास्तव मे क्या मेल है कुछ नही। प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न होता है एक द्रव्य दूसरें के साथ मिलकर कभी एक नही होजाता और जब एकता नहीं,वहां कौन किसका सुधार और विगाड़ कर सकता है। इस शरीर के परमाणु अपने रूपसे शाश्वत हैं तो मेरा आत्माभी अपने रूपमे शाश्वत सदा रहने वाला है इस प्रकार द्रव्य दृष्टि को अपनाने से सम्यग्दर्शन होता है। हां आत्मा के विकार होने मे विकारी पुद्गल-परमाणु समूह निमित्त रूप हो सकता है किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखा जाय तो प्रत्येक परमाणु भी पृथक् पृथक् ही हैं। दो परमाणु कभी भी मिल कर एक नहीं होते और एक पृथक् परमाणु कभी भी विकारका निमित्त कारण नहीबन सकता अर्थात् द्रव्य दृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के विकार का निमित्त नही होता बल्कि द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो विकार कोई चीज है ही नही। जीव द्रव्य में भी द्रव्य दृष्टि से नही किन्तु पर्याय दृष्टिसे विकार है। मतलब इस जीव की वर्तमान अवस्था राग द्वेष रूप हो रही है उसमे कर्मोदय निमित्तकारण जरूर है किन्तु पर्याय तो क्षणस्थायी है। अतः उसे गौण करके द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो कर्म फिर चीज ही क्या है कुछ भी नही,कर्म तो पुद्गल परमाणुवों के स्कन्ध विशेष का नाम होता है और द्रव्यत्वेन प्रत्येक परमाणु भिन्न २ हैं स्कन्ध होते

ही नही हैं तो फिर जीव के विकार का निमित्त कौन और निमित्त के बिना विकार कहां से ? इस प्रकार द्रव्य दृष्टि के अपनाने पर राग द्वेष की उत्पत्तिका कारण ही जब नही रहता तो वीतरागभाव सहज आप्रात होता है । एवं जो भी वीतराग बने है । वे सब इसी को स्वीकार करके उसके उपर चलने से बने हैं इस प्रकार के तात्विक प्रयोजन को जो महानुभाव हृदयङ्गम कर लेता है उसका मानस कमसे कम पाषाण सदृश कठोरता को उलांघ कर मक्खन सरीखी कोमलता को स्वीकार कर लेता है । यद्यपि यह जीव जब तक कि संयम धारण नही करता तब तक अपने पूर्व कर्मोदय से प्राप्त हुये समुचित विषय भोगों को भोगता जरूर है परन्तु जैसे कोई रुग्ण आदमी रोग की पीड़ाको न सहसकने के कारण उसके प्रतीकार स्वरूप दवा का उपयोग किया करता है वैसे ही यह भी उन्हें अपने काम में लाता है । फिर भी यह अपने ऐश आराम की अपेक्षा दूसरे सज्जनों को आराम पहुंचाने में विशेष संलग्न रहता है । अपने इस चर्म के लिये नही किन्तु धर्म के लिये सदा ही उत्कण्ठित रहता है अतः अपनी धारणियों को भी लात मार कर प्राणियों के भले के लिये मरने को तैयार रहता है एवं सहजतया अन्याय मार्ग से दूर रहता है क्यों कि—

आत्मत्वमङ्ग दधतोऽभिभूष्टि, पर्याय एवास्यवभूवदृष्टिः ।
सर्वांसमेतस्यनितान्तमन्तोद्रव्येऽधुना दृष्टिरुदेतिजन्तोः ।२०

अर्थात्— सम्यग्दर्शन होने से पूर्व में आज तक जो यह जीव पर्याय दृष्टि हो रहा था, अपने शरीर को ही अपना स्वरूप समझ रहा था, देह को ही आत्मा माने हुवे बैठा था, इस शरीर से भिन्न आत्मा को कोई चीज नही समझता था अतः इस शरीर को ही मोटा ताजा और सुडोल बनाने मे जुटा हुआ था एवं जब शरीर से न्यारा आत्मा कोई चीज नही तो परलोक स्वर्ग और नरक वगेरह फिर रहेही क्या ? कुछ नही इस लिये निःसंकोच होकर पाप पाखण्ड करने में जुटरहा था, अपने इस शरीर को पुष्ट करने के लिये दूसरों की ज्यान का दुश्मन बना हुवा था। अपनी ज्यान बहु मूल्य किन्तु दूसरे की ज्यानका कोई भी मूल्य नही अतः इसकेलिये भक्ष्याभक्ष्यका विचार तो कुछ था ही नही, सर्व भक्षी बन रहा था। चोरी चुगलखोरी करके भी अपना मतलब सिद्ध करने में लग रहा था कोई भी प्रकार की रोक थाम तो इसके दिल के लिये थी ही नही निरंकुश निडर हो रहा था अगर डर था तो इस बात का कि यह शरीर बिगड़ न जावे १ कोई दूसरा आदमी मुझे कुछ कष्ट न दे बैठे २ इस शरीर में कोई रोग वेदना न हो जावे ३ और भी न मालूम किस समय कौनसी आपत्ति मुझ (इस शरीर) पर आपड़े ४ ताकि मैं मारा जाऊं ५ क्या करूं कहां जाऊं कोई मेरा नही जिसकी शरण गहूं ६ कोई ऐसा स्थान नही जहां पर जा छिपूं ७ इस प्रकार के डरके मारे कांपा करता था। इसकी समझ में यह सारी दुनियां ही इसकी

दुश्मन थी क्यों कि यह था अपने मतलब का यार, दुनियां का कांटा। आप धाप चुका तो दुनियां छकी और आप मरा तो जगत्प्रलय हो गया, यह भावना। इस लिये सबसे वैर किसीसे भी प्रेम नही अगर कही हुवा भी तो वह भी स्वार्थ को लिये हुवे ऊपरसे दिखाऊ प्रेम हुवा इस प्रकार अपने शरीर का ही साथी होकर कुपथ का पथिक हो रहा। किन्तु अब जब सम्यग् दर्शन होगया तो अन्तस्तल मे आत्म द्रव्य पर विश्वास हो लिया कि मेरी आत्मा इस शरीर में होकर भी इस शरीर से भिन्न है और सच्चिदानन्द स्वरूप है इस प्रकार के विश्वास के द्वारा इसका वह उपर्युक्त विश्वास अब जाता रहा एवं जो-निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और निश्चयनय का आश्रय लेने पर ही जीव सम्यग्दृष्टि बनता है इस प्रकार के श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कथनको सार्थक कर दिखलारहा है क्योंकि—

ववहारणवोभासदि जीवो देहो य हवदि खलुइक्को।
णदुणिच्छयस्स जीवो देहो यकदाविएकट्ठो ॥२७॥

आचार्य श्री ने ही अपने समयसार मे वतलाया है कि जो जीव को और देह को एक बतलाया करता है वह व्यवहारनय होता है किन्तु जो जीव और देहको कभी भी एक न वताकर सर्वदा भिन्न भिन्न बतलाता हो वह निश्चय नय है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय नयाश्रयी होता है इसका मतलब यह नहीसमझना चाहिये कि वह व्यवहार को बिलकुल भूल ही जाता हो अपितु इतर प्राणियोंके प्रति वह व्यवहार का पूरा पूरा आदी होता है।

अपने शरीर पर अगर कोई आपत्ति आती है, उसे सहन करता है उसमें पत्थर के समान मजबूत दिलवाला रहता है। घबराता नही है शोचता है कि यह चित्र बाधा मेरा क्या बिगाड़ सकती है, यह तो शरीर पर होती है, मेरी आत्मा तो शरीर से भिन्न है उसका कोई विगाड़ इससे नही होसकता इस मेरे कहलाने वाले शरीर के भी परमाणु वस्तुतः सब भिन्न भिन्न नित्य हैं उनका भी इससे विगाड़ हो सकता है क्या ? किन्तु नही फिर घबराने की बात ही कौनसी है इति। मगर वही जब दूसरों पर किसी प्रकार की आपत्ति को आई हुई देखता है तो झट ही अग्नि से मक्खन की भांति इसका मन पिघल उठता है, यथा शक्ति उसे उन पर से दूर करने की चेष्टा करता है। वहां यह नहीं शोचता कि इनकी आत्मा तो शरीर से भिन्न है इत्यादि। और इसी लिये अपनी तरफ से जहां तक हो सके किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट देना ही नही चाहता है क्यों कि यह जानता है कि इनकी आत्मा और शरीर परस्पर जब एक बन्धन रूप हैं तो फिर इनके शरीर में किया हुवा कष्ट इनकी आत्मा को ही होता है, उस कष्ट का सम्वेदन तो इनकी आत्मा ही करती है। ऐसा शोच कर हिंसा, झूंठ, चोरी अभक्ष्य भक्षणादि कुकर्मोंसे बचा हुवा रहता है, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करता है। पूर्वोक्त मिथ्या-दृष्टि सरीखी क्रूरता का इस में नाम लेश भी नही रहता, यह सभी के साथमें प्रेम का वर्ताव रखता है। किसी के भी प्रति

इसका वैर विरोध द्वेप भाव प्रथम तो होता ही नही अगर कहीं किसी पर होता भी है तो पुत्र के प्रति पिता की भांति उसे ताड़ना देकर उसे सत्पथ पर लाने के लिये स्नेहान्वयी रोप हुवा करता है जैसा कि विष्णुकुमार स्वामी का रोष ब्राह्मण पर हुवा था तो जिसकी कि गणना द्वेष में नही होनी चाहिये। यद्यपि इस सम्यग्दृष्टि का खुद का भोलेपन वगैरह से कोई अविनय कर देता है तो उसकी तरफ यह कुछ ध्यान नही देता परन्तु किसी के द्वारा किये गये हुये पूज्य पुरुषों के अविनय को यह कभी सहन नही कर सकता क्यों कि आप उनका यथाव्यवहार पूर्ण विनय करता है। यद्यपि शरीर से आत्मा को भिन्न मानता है अतः शरीर में से बहने वाले पसीने को आत्मा की क्रिया न मान कर उसे शरीर की क्रिया मानता है, परन्तु खाना, पीना, स्त्री सम्भोग करना और कपड़ा पहनना जैसी क्रियावों को निरे शरीर की ही क्रिया नहीं मानता बल्कि वहां पर शरीर और आत्मा को एक जान कर उन्हें तो अपने ही द्वारा की गई हुई मानता है। इस प्रकार निश्चयनय सहित व्यवहारनय का अनुयायी होता है। हां पूर्वोक्त मिथ्या दृष्टि की भांति निरे व्यवहार का ही अनुयायी हो सो बात अब नही है किन्तु सद्व्यवहार का धारक होता है। क्यों कि इसका दर्शन मोह तो गलगया फिर भी चारित्र मोह बाकी है ताकि रागांश के वश होकर इसे ऐसा करना होता है और इसी लिये यह सराग सम्यग्दृष्टि

कहा जाता है। अस्तु। इस प्रकार आत्म-प्रयत्न से मिथ्यात्व को दबा कर सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है वहां कितनी देरतक रहता है और उसका क्या नाम है सो बताते है--

सम्यक्त्वमेतत्प्रथमोपशाम, मन्तर्मुहूर्तावधिभातिनाम।
पश्चात्तुमिथ्यात्वमुदेतियद्वाप्राप्तिश्चसम्यक्प्रकृतेरियंवाक्।३१।

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनने वाले दो प्रकार के जीव होते हैं एक अनादि, दूसरा सादि। सो अनादि मिथ्या दृष्टि जीव एक दर्शन-मोहनीय और चार अनन्तानुबन्धि कषाय इन पांच प्रकृतियों का उपशम करके उन्हें दबाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है जो कि सम्यग्दर्शन एक अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक रहता है परन्तु इस अन्तर्मुहूर्त मात्र सम्यक्त्व-काल में वह जीव अपने आत्म-परिणामों द्वारा सत्ता में रहने वाले उस मिथ्यादर्शन कर्मके तीन टुकड़े करलेता है। दर्शनमोह, मिश्रमोह और सम्यक् प्रकृति मोह कर्म। अब सम्यग्दर्शन का काल समाप्त होते ही अगर मिथ्यात्व का उदय आया तो वापिस मिथ्या दृष्टि बन जाता है फिर जब कभी सम्यग्दृष्टि बनता है तो यह सादि मिथ्यादृष्टि जीव अपनी तीन तो दर्शनमोह की और चार अनन्तानुबन्धि कषाय इन सात प्रकृतियों का उपशम करने से सम्यग्दृष्टि हो पाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिसे जो सम्यग्दृष्टि बनता है उसके सम्यग्दर्शन को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। हां इस प्रथमोपशम

सम्यक्त्ववाले के दर्शनमोह का उदय न आकर सम्यक्प्रकृति मोह का उदय आया तो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और अगर मिश्रमोहनीय का उदय आया तो मिश्रस्थानी भी बन सकता है किन्तु बाद में फिर मिथ्या दृष्टि होना पड़ता है । ऐसा कितनी बार होता है सो नीचे बताते हैं—

मिथ्यादृशातः समुपैतिसम्यग्दशामतोऽन्यांवहुशोऽभिगम्य ।
यावत्खलुक्षायिकभावजातिस्तत्पूर्तितोऽन्तेशिवतांप्रयाति ॥ २

अर्थात्—इस प्रकार अपने उस अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल में यह जीव मिथ्या दृष्टि से सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि से फिर मिथ्या दृष्टि अनगिनतीवार भी होजा सकता है जब तक कि इसे क्षायिकभाव की प्राप्ति न हो जाती है । अन्त में जब अधिक से अधिक अपने अन्तिम जन्म से पूर्व के तीसरे जन्म में दर्शन मोह का नाश करके क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है यानी क्षायिक सम्यग्दर्शन जिस भव में होता है उस भव सहित चार भव तक संसार में अधिक से अधिक रहता है क्योंकि फिर भी क्षायिक चारित्रका प्राप्त करना इसके लिये बाकी रहजाता है सो उसे अपने चरम जन्म में प्राप्त होकर घाति कर्मों का नाशकर केवल ज्ञानी बनकर आयु के अन्त में अशरीर होते हुये साक्षादमूर्त सिद्ध दशा प्राप्त करता है । सो आज तक के बीते हुये काल में ऐसे अनन्त सिद्ध परमात्मा हो गये हैं जिनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे बतलाते हैं—

वन्देऽन्तिमांगायितबोधमूर्तीनुपात्तसम्यक्त्वगुणोरुपूर्तीन् ।
लोकाग्रगान्विश्वविदेकभावानहं सदानन्दमयप्रभावान् ॥२३॥

अर्थात् सिद्ध होजाने के बाद उनकी आत्माका परिणमन उनके अन्तिम शरीर से कुछ न्यून तथा रूप रस गन्धादि से रहित हो रहता है । वे परिपूर्ण शुद्धता को लिये हुये ज्ञान दर्शनादि अनन्त गुणो के भण्डार हो रहते हैं । यद्यपि वे सिद्ध भगवान जाकर लोक के अग्रभाग में विराजमान हो रहते हैं मगर अपने सहज अखण्ड ज्ञान से विश्वभर के पदार्थोंको स्पष्टरूप से जानते रहते हैं । इस लिये सदा आनन्द-मय स्वभाव के धारक होते हैं ऐसे सिद्धपरमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो । अस्तु । उस सिद्धदशा का मूल भूत वीज जो सम्यक्त्व है वह कैसे प्रस्फुट होता है सो बताते हैं—

दृग्मोहकर्मत्रितयस्यतस्य चारित्रमोहाद्यचतुष्टयस्य ।
सम्यक्त्वमस्तूपशमाच्चनाशान्निगद्यतेऽमुष्यदशासमासात् २४

अर्थात्— जैसे जमीन के अन्दर छिपा हुवा वीज, जो है वह अनूपरपन, खाद, पानी और पलाव की मदद से समय पाकर अपनी स्फुरण शक्ति के द्वारा मिट्टी को दबाकर अंकुरित हो लेता है वैसे ही कर्मों के भार से दबा हुवा यह जीवात्मा भी जब पूर्वोक्त क्षयोपशम,देशना,विशुद्धि और प्रायोग्यलब्धि की मददसे काललब्धि होने पर अपनी स्फुरण शक्ति के द्वारा मोहको दबा कर सम्यक्त्ववान् बनता है । मोहकर्म का ह्रास उपशम, क्षय

और क्षयोपशम के भेद से तीन तरह का होता है अतः सम्यक्त्व के भी औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इस प्रकार तीन ही भेद हो जाते हैं। याद रहे कि मोहके दर्शनमोह और चारित्र मोह ऐसे दो भेद होते हैं सो दर्शनमोह के साथ ही साथ चारित्रमोह का भी अभाव हो जाता हो ऐसी बात नहीं किन्तु दर्शनमोह के अभाव में चारित्रमोह बिलकुल अछूता ही बचा रह जाता हो, वह अपनी पूरी ताकत बनाये रखता हो और सम्यग्दर्शन हो जावे सो बात भी नहींहै। किन्तु दर्शन-मोह के साथ चारित्र मोह की भी एक चतुर्थांशावलि हो लेती है तभी सम्यग्दर्शन होता है अतः सम्यग्दर्शन को भी सम्यक्त्व शब्द से कह दिया जाता है वरना तो सम्यक्त्व नाम तो मोह के अभाव का है। अस्तु। दर्शन मोह की तीन प्रकृतियां और चारित्र मोह की शुरू की अनन्तानुबन्धि नाम वाली चार प्रकृ-तियां इन सात प्रकृतियों का उपशम होने पर तो औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है जिसको कि प्रथमौपशमिक सम्यग्दर्शन भी कहते हैं क्योंकि एक औपशमिक सम्यग्दर्शन वह भी होता है जिसको कि उपशम श्रेणि के सम्मुख होने वाला क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करता है। जो कि अपनी सम्यक् प्रकृतिका उपशम और अनन्ता नुबन्धि चतुष्टय का विसंयोजन करके कर पाता है उसको द्वितीयौपशमिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उन्हीं सात प्रकृतियोंका क्षय होनेसे, उनमें होने वाले कर्मत्व का सर्वथा अभाव हो जाने से जो हो वह क्षायिक सम्यग्दर्शन

होता है। चकारसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन भी होताहै जोकि क्षयोपशम से होता है। वर्तमान काल में उदय आने योग्य कर्मों के सर्वघाति स्पर्द्धकों का तो उदयाभावी क्षय हो, वे अपना कुछ भी असर आत्मा पर न दिखा कर बेकार होते जा रहे हों और देशघाति स्पर्द्धकों का उदय हो अर्थात्- वे अपना प्रभाव दिखाते रहते हो किन्तु आगामी काल मे उदय आने वाले स्पर्द्धकों का सदवस्थोपशम हो यानी उनकी भी उदीरणा न हो आवे ऐसी कर्मों की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। मतलब कि आत्माके ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म तो घाति कर्म कहलाते हैं क्यों कि ये आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं। बाकी के चार कर्म अघाति होते हैं क्यों कि वे स्वमुख से आत्मगुणों का घात नहीं करते किन्तु उन्हीं घाति कर्मों की सहायता करते हैं। सो उन घाति कर्मों में दो तरह के स्पर्द्धक होते हैं, एक तो सर्वघाति जो कि आत्मगुणों को पूरी-तोर से घातते हों और देशघाति जो कि आत्मगुणों का आंशिकरूप में घात करते हों। एवं सम्यक्त्व को न होने देने वाली—उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से एक सम्यक्प्रकृति तो देशघाति है, बाकी की छः प्रकृतियां सर्वघाति। सो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के उन छः प्रकृतियों का तो विपाकोदय न हो कर सिर्फ प्रदेशोदय होता रहता है उनके स्पर्द्धक तो मृत प्राय होकर निकलते रहते हैं किन्तु एक सम्यक्प्रकृति अपना

फल दिखलाती रहती है ताकि उसके सम्यग्दर्शन का घात न होकर उसके परिणामों में चल बिचलपना होता रहता है। जैसे कि बुढ्ढ़े के हाथ मे होने वाली लाठी अपना कार्य करती हुई भी स्थिर और दृढ़ न होकर हिलती हुई रहा करती है। बाकी के औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के परिणाम सुदृढ और निर्मल होते हैं जैसे कि जवान आदमी के हाथ में होने वाली तलवार अपना कार्य अच्छी तरह से करती है। अस्तु। इस सम्यग्दृष्टि की भी चेष्टा कैसी होती है सो ही संक्षेप मे आगे बता रहे हैं—

अयंपुनर्लोकपथेस्थितोऽपि न सम्भवेत्तात्विकवृत्तिलोपी
नजङ्गमायाति सुवर्णखण्डःपङ्के पतित्वेव लोहदण्डः।३५।

अर्थात्— यह उपर्युक्त सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि सम्यग्-दर्शन प्राप्त कर चुका है फिर भी चरित्रमोह का अंश इसकी आत्मा मे अभी विद्यमान है इस लिये प्रवृत्ति इसकी ठीक जैसी होनी चाहिये वैसी अभी नही हो पाई है। यद्यपि जान चुका है कि यह शरीर मेरे से या मेरी आत्मा से भिन्न है तथा जितने भी ये माता पिता स्त्री पुत्रादि रूप सांसारिक नाते हैं वे सभी इस शरीर के साथ हैं ऐसा, फिर भी इस शरीर के नातेदारों को ही लोगों की भाति अपने नातेदार समझते हुये उनके साथ में वैसा ही वर्ताव किया करता है। तो भी अपनी उस तात्विक श्रद्धाको खो नही डालताहै वल्कि इस व्यावहारिक

चेष्टा से भी उसको पुष्ट करने की कोशिश करता है। इस बात के समझने के लिये हमें मैंनासुन्दरी को याद करना चाहिये। मैना से जब इसके पिता ने कहा कि बेटी मैना, तेरी बड़ी बहन सुरसुन्दरी के समान तूं भी तेरे पति को निगाह करले तूं कहेगी उसी महाराज कुमार के साथ में मै तेरी शादी करदूंगा। इस पर पिता को पिता मानते हुये मैना ने कहा कि पिता जी यह मेरा काम नही है यह तो आपका कार्य है आप जिसके भी साथ में उचित समझें मेरी शादी करदे। इस पर पिता यद्यपि नाराज हुवा और बोला कि देख तू अपने पति को अपने आप ढूंढ ले नही तो इसमें अच्छा नही, किन्तु तेरा बहुत बुरा हो जावेगा इत्यादि। किन्तु मैना तो अपनी श्रद्धा को अटल किये हुये थी कि मेरे पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार जिस किसी के साथ में मेरा सम्बन्ध होना है वही तो होगा इसमे कोई क्या कर सकता है। तो फिर मै क्यों व्यर्थ ही निर्लज्ज बनूं और क्यों कायरों की श्रेणी में अपना नाम लिखाने का काम करूं।

शङ्का—तो क्या अपने भले के लिये प्रयत्न करना कायरता है? बल्कि वह तो पुरुषार्थ है।

उत्तर - आप कौन और उसका भला क्या करना? आप तो हैं आत्मा जिसका कि भला वीतरागता में होता है सो कषायोदय का निमित्त उपस्थित होने पर भी उसको अपने उपयोग में न लाकर वीतरागता अर्थात्- मन्दकषायिता की

और झुकना इसी का नाम तो यत्न है जैसा कि मैंना ने किया था। प्रत्युत निमित्तानुसार परिणमन करके कषायों को पुष्ट करना तो कायरता है जैसा कि अज्ञानी जीव किया करता है। यही तो संसारी जीव और मुक्तिमार्गी जीवमें परस्पर विशेषता होती है। कीचड़में पड़कर लोहा जङ्ग पकड़ जाया करता है, मगर सोना वैसा नही होता वह भले ही जब तक उसमें पड़ा है उससे लिपा हुवा रहता है फिर जहां उसे जरासा पानी से धोया कि साफ सुथरा हो लेता है। बस तो वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी जब तक गृहस्थ होता है या कषायवान् है तब तक कर्म और कर्मफलरूप अज्ञान चेतनामयी चेष्टावाला होता है फिर भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से उसमें वहुत कुछ अन्तर होता है सो ही नीचे स्पष्ट करते हैं—

एतस्य वाह्यात्मवतोऽपिचेतः कर्मण्यथोकर्मफलेतु चेतः।
तथापिरामस्यचराचणस्ये, वबुद्धिमानन्तरमाशुपश्येत् ।३६।

अर्थात्— यद्यपि उदय में आये हुये कर्म के फल को मिथ्यादृष्टि की तरह से सम्यग्दृष्टि भी भोगता है तथा अपने कषायांश के अनुसार पापके फल को बुरा और पुण्य के फलको अच्छा भी समझता है अतः जब तक गृहस्थावस्था मे होता है तब तक पाप के फल से बच कर पुण्यफल को बनाये रखनें की यथा साध्य बुद्धिपूर्वक चेष्टा भी करता है फिर भी इन दोनों की चेष्टा में पशु और मनुष्य का सा अन्तर होता है।

खाने को पशु भी खाता है और मनुष्य भी किन्तु पशु सिर्फ पेट पालने में ही लगा रहता है उसे औचित्यानौचित्य का विचार नही रहता भूसे के साथ में कोई कांटा कंकर मिट्टी हो उसे भी खाजाता है तो मनुष्य उन्हें यत्नपूर्वक हटा कर अपने भोजन को साफ सुथरा करके खाया करता है । किञ्च बछड़ा गायका दूध पीता है उससे आप भी फोरपाता है और गाय भी आराम से रहती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि की चेष्टा खुद के लिये और दूसरो के लिते भी लाभदायक हुवा करती है परन्तु मिथ्या दृष्टि जीव अपनी चेष्टा के द्वारा आप भी कष्ट भोगता है तो औरों को भी कष्टप्रद हुवा करता है, जैसे कि जोक पराया खून चूसती है सो उसे तो कष्ट पहुंचाती ही है किन्तु आप भी कष्ट उठाती है । देखो कि कौटम्बिक जीवन के भोगने वाले राम भी रहे और रावण भी था किन्तु दोनों के रहन सहन में कितना अन्तर था इसको विद्वान् आदमी सहज में समझ सकता है । श्री रामचन्द्र अपने पिता का वचन व्यर्थ न हो पावे और मोसी केकई को कष्ट न पहुंचे सिर्फ इसी लिये अपने न्यायोचित राज्य को भी भाई भरत के लिये दे चले और आप जङ्गलों मे घूमते फिरे रास्ते में भी जो कुछ राज्य सम्पत्ति पाई उसे औरों के लिये अर्पण करते चले गये इसी मे उन्हें आनन्द प्राप्त था । जब सीता हरीगई तो उसका पता लगाना और शीघ्र से शीघ्र लाना एक आवश्यक बात थी फिर भी सुग्रीव जब मिला तो बोले कि मेरी सीता की तो कोई

बात नही मैं पहले तुझे तेरी सुतारा दिलाता हूं, चलो। वाहरे उदारता और वाहरे परोपकार क्या कहना हो इस महत्ता के बारे में.। अब चलो रावण की तरफ-रावण जब खर दूषण जो कि उसका बहनेऊ लगता था उसकी भी मदद के लिये जब रवाना हुवा और रास्ते में मनमोहिनी-सीता को जब देखपाया तो खर दूषण की सहायता करने को तो भूल गया और बीच में ही सीता को हथियाके चलता बना, एवं जब लोगों ने उसे समझाया कि यह बात तुम्हारे लायक नही है तो गुरुजनों की बात को भी ठुकरा कर उसने विभीषण सरीखे भाई को भी निकाल बाहर कर दिया, क्षणिक भोगविलास की लालसा में फंस कर अपने आपके लिये तथा औरों के लिये भी कांटा बन गया इसी लिये राक्षस कहलाने का अधिकारी हुवा। बस तो यही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की चेष्टा में अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि जीव भोगों के पीछे मरपूरा देता है किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अपने रुप्राप्त भोगों को उदारताके साथ भोगताहै सो नीचे फिर स्पष्ट कर बताते हैं—

प्राप्त्यैतुभोगस्ययतेतसव्यस्तंप्राप्तमेवानुकरोतिभव्यः।
साम्राज्यमंगीकृतवान्सुभौमः सुतः पुरोरत्रच सार्वभौमः ३७

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि जीव नये से नये भोगों को भोगने के लिये लालायित बना रहता है जैसे कौवा जब प्यासा होता है तो एक बूंद किसी घड़े में से पीकर फिर एक

चंचु किसी दूसरे घड़े में जा मारता है ऐसे कई गृहस्थों के घड़ों को बिगाड़ डालता है तो भी तृप्त नहीं हो पाता। भोग भोगता अव्रत सम्यग्दृष्टि भी है मगर वह अपने कर्मोदय के अनुसार जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसी को सन्तोष के साथ भोगा करता है जैसे कि पालतू पिल्ला अपने मालिक की दी हुई रूखी सूकी रोटियों को खाकर मस्त बना रहता है। इस बात को समझने के लिये हमारे पाठकों को सुभौम चक्रवर्ती और भरत चक्रवर्ति का स्मरण करना चाहिये। भरत जी तो श्री ऋषभदेव भगवान् के जेष्ठ पुत्र एवं इसी युग के आदि चक्री होगये हैं। सुभौम भी इस युगके चक्रवर्तियो में से एक हैं। दोनों ही इस छः खण्ड पृथ्वी के भोक्ता थे छिनवे छिनवे हजार स्त्रियों के पति थे। अठारह कोड़ घोड़े, चोरासी लाख हाथी, नवनिधियां और चौदह रत्न इत्यादि सब बातें दोनों के एक समान थीं। हजारों देव जिन की सेवा और पगचम्पी करने वाले थे परन्तु दोनों के आत्मपरिणामों में जमीन-आसमान का सा अन्तर था। भरत जो दिन सरीखे प्रकाश को लिये हुये थे तो सुभौम रात्रि के अन्धकार में पड़ा हुवा। भरत महाराज इस सब ठाठ को अपने पूर्वकृत सविकल्प धर्म का फल मान रहे थे अतः धर्मको ही प्रथमाराध्य समझ रहे थे और वीतरागता के आनन्द के आगे इन भोगों के सुख को अमृत के सम्मुख खल के टुकड़े जितना भी नही मान रहे थे इस लिये अन्तमें इसे त्याग कर जरासी देर मे पूर्ण वीतराग हो लिये। किन्तु

सुभौम अपने राज्य को अपने बाहुवों के बल से प्राप्त किया हुवा और बहुत बड़ी चीज मान रहा था, धर्मको ढकोसला समझ रहा था एवं भोगविलास में मग्न था इसी लिये अन्तमें एक आमके फल के स्वादमें पड़कर हड़काये हुये कुत्ते की भांति बेढङ्गेपन से मारा जाकर नरक में पड़ा। बस इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के विचार में भेद होता है बल्कि भोगों को भोगते समय में भी दोनों की चेष्टा में बहुत कुछ भिन्नता होती है उसीको नीचे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

भुनाक्ति भोगान्सम स लक्ष्मणश्चरामश्च किन्त्वन्तर मप्युश्चत्
युद्धे पुनः पाण्डव कौरवाभ्याँमिथः कृतेऽप्यन्तरमेवताभ्यां ३८

अर्थात— एक राज्य वैभव के भोगने वाले राम और लक्ष्मण इन दोनों भाइयों में भी परस्पर में आत्मपरिणामों में बहुत कुछ अन्तर रहा है। देखो कि जब केकई के कहने से दशरथ महाराज अयोध्या का राज्य भरत को देने लगे तो इस पर क्रोध में आकर लक्ष्मण तो धनुष तान करके दिखाने के लिये खड़े हो जाते हैं मगर श्री रामचन्द्र अपनी सरलता दिखलाते हुवे उसे ऐसा करने से रोक रहे हैं कि नही भैय्या तुम लड़कपन मत दिखलावो हमें ऐसा करना उचित नही। बल्कि माता केकई के चरणों मस्तक रखना और पिता जी की आज्ञानुसार अयोध्या को छोड़ कर चल ही देना चाहिये। रावण से प्रतिद्वन्द्विता करते समय भी लक्ष्मण तो यह कहता

जारहा है कि रावण बड़ा दुष्ट है, हम उसे मारे विना नही छोड़ेंगे परन्तु श्री रामचन्द्र बोलते हैं कि नही, रावण से हमारा क्या विरोध है, रावण तो हमारे बड़ों में से है, हमें तो हमारी सीता राणी से प्रयोजन है । रावण जब बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने लगा तो सुग्रीवादि सभी घबराये कि उसे अगर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध होगई तो फिर वह किसी से भी नही जीता जाने का, उसके ध्यान में विघ्न डालदेना चाहिये । इस पर श्री रामचन्द्र तो अपनी सहज गम्भीरतासे जवाब देतेहैं कि इस समय जब कि वह धर्माराधना में लगा हुवा है तो उस पर उपद्रव मचाना ठीक नही है, भलेही हमारी सीता हमे न मिले इत्यादि । मगर फिर भी लक्ष्मण उठता है और गुप्तरूप से इसारा करके रावण के प्रति विघ्न करने के लिये अंगदादि को भेज देता है । इसी प्रकार सीता की बुराई बतलाने के लिये अयोध्या के लोग जब आये हैं तो लक्ष्मण तो क्रोध करके उन्हें मारने को तैयार हो जाते हैं किन्तु श्रीराम उनकी बातको ध्यान से सुन कर उन्हे छाती से लगा लेते हैं और सीता को निकाल ही देते हैं । एवं एकसा राज्य भोग करते हुये भी आत्मपरिणति की विशेषता से ही लक्ष्मण तो आज भी पाताल का राज्य कर रहे हैं किन्तु श्रीरामचन्द्र अन्तमें कर्म काट कर मोक्ष प्राप्त कर गये हैं । यही हाल कौरव और पाण्डवों का था दोनों राज्य के हामी थे, दोनों परस्पर युद्धमें जुटे हुये थे फिर भी एक बुराई के रास्ते पर था तो दूसरा भलाई की ओर

जा रहा था। कौरवों की हरेक चेष्टा में क्रूरता, छल, विश्वास-घात और गुरुद्रोह सरीखी बातें भरी थीं किन्तु पाण्डवों में एक युधिष्ठिर की आज्ञानुसार चलना, विनय, सरलता, सत्य-वादिता आदि गुण दीख पड़ते थे। जो कि उनकी जीवनी को पढ़ने से स्पष्ट होते हैं। मतलब यह कि वही कार्य अपनी इन्द्रियाधीनता शारीरिक आराम को लक्ष्य में रख कर किया जाता है तो वहां मिथ्यात्व, पाप-पाखण्ड आधमकता है परन्तु उसी काम को कर्तव्यशीलता, परोपकार की भावना से करने पर उसमें धार्मिकता की पुट लगी हुई हुवा करती है जैसा कि नीचे के उदाहरण से भी स्पष्ट होगा—

स्वयँ दृखायैवपतिंगृहीतु ममिप्रवृत्ता सुरसुन्दरीतु ।

सिसेवच स्वामिन मन्तरन्दाच्छ्रीसुन्दरीसा मदनोपशब्दा ३६

अर्थात्—सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी येदोनो राजा पुष्पपाल की लड़की थीं सुरसुन्दरी बड़ी और मैना उससे छोटी। जब ये दोनों पढ़नेके योग्य हुईं तो सुरसुन्दरी तो किसीभी पाण्डेजी के पास किन्तु मैना किसी आर्यिका जी के पास विद्या पढ़ने के लिये रक्खी गई। तुक्मतासीर होती ही है मगर सोबत का भी असर होता है इस कहावत के अनुसार पढ़ने की योग्यता तो उन दोनों की अपनी अपनी थी ही परन्तु जैसी उन्हें शिक्षा मिली उसी ढांचे में उनका उपयोग ढलगया। सुरसुन्दरी को पाण्डे जी ने बतलाया कि जो कोई अपनी कोशिश से अपने

आराम के साधन जुटाता है वह अपनी जिन्दगी अच्छीतरह से विता सकता है। किन्तु मैना को समझाया गया था कि माता पिता पति पत्नी भाई वन्धु वगैरह का जो कुछ सयोग होता है वह इसीके पूर्वोपार्जित कर्मानुसार हुवा करता है। अतः उसमें उद्विग्न न हो कर उनकी यथासाध्य सेवा करते हुये अपने कर्तव्य का पालन करते रहना चाहिये और परमपरमात्मा का स्मरण करते हुये अपने उपयोग को निर्मल वनाना चाहिये ताकि आगे के लिय सव ठाक होता चला जावे इत्यादि। सो सुरसुन्दरी ने तो अपने विचारानुसार किसी एक वड़ेभारी राजकुमार को अपने आप पति निर्वाचित करके उसके साथ विवाह किया किन्तु मैना का सम्वन्ध श्रीपाल कोढी के साथमे किया गया। अव दोनों ही अपने २ पति को अपना २ पति समझती हैं फिर भी दोनों के विचार मे वड़ा अन्तर है। सुरसुन्दरी तो उसको अपने लिये सुखका साधन समझ कर उसके साथ आराम भोगने लगी और उसमे इतनी अन्धी हुई कि अपने धर्म कर्तव्य से शून्य हो जाने के कारण एक दिन उसे भिखारिन वनना पड़ा। परन्तु मैना अपने आपको कष्ट मे डाल कर भी पतिकी सेवा करना अपना कर्तव्य मानती हुई अपने अन्तरंग मे भगवान का स्मरण रखते हुये विशुद्ध भाव से उसकी सेवा करने लगी ताकि अन्तमें इस दुनियां के लोगों के लिये आदर्श वन गई। मतलव यह कि गृहस्थता के नाते, एकसा होकर भी मिथ्यादृष्टि जीव अपनी उलटी समझ के

कारण उसमें फंस कर पतन करजाया करता है, खक्कार में पड़ी हुई मक्खी के समान। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अपने उन्मनो-भाव से अगर गृहस्थपन में भी होता है तो कालक्षेप जरूर करता है फिर भी फंस नहीं रहता है बीच की स्टेशन के ऊपर खड़ी हो रहने वाली गाड़ीके समान। किन्तु जनसेवा का भाव लिये हुये सत्ता स्वीकार करता है सो बताते हैं—

नतुङ्ममार्थं कुविधामलुश्यादेकेतिबुद्ध्यासुतमत्रपुष्यात्।
परा तु तं मोदकरं विचार्याऽभिसन्निदध्यादिदमाहुरार्याः ४०

अर्थात्—यहां कर्मफल चेतना और कर्म चेतनारूप अज्ञान चेतनाका प्रकरण चला आरहा है सो वह दो प्रकारकी होती है एक शरीराश्रित दूसरी आत्माश्रित। सो शरीराश्रित अज्ञान चेतना तो मिथ्यादृष्टिकी होती है और आत्माश्रित अज्ञानचेतना सराग सम्यग्दृष्टि की। जैसे माता अपने बच्चे का पालन पोषण करती है तो उसका पालन करना माता का कार्य यानी कर्म हुवा और उसके पालन करने के बारे की जो बुद्धि=विचारविशेष उसका नाम चेतना, वह उसकी दो प्रकार से होती है। एक तो यह कि यह बच्चा बड़ा खूबसूरत है बड़ा सुहावना है मुझे बड़ा प्यारा लगता है इस प्रकार के विचार को लेकर उसका पालन करना सो यह तो शरीराश्रित कर्मचेतना हुई क्यों कि इसमें उस बच्चे की आत्मा के हिताहित पर कोई विचार न होकर उसके शरीर की ओर का ही विचार होता है। वह जिस प्रकार हृष्ट पुष्ट

वना रहे, उसीकी चेष्टा कीजाती है, भले ही बच्चा बुरी आदतों में ही क्यों न पड़ जावे, उसे कुछ भी ताड़ना देने को तबियत नही होती। सो यह विचार खोटा और मोही जीव का होता है। दूसरी विचारधारा माता की बच्चे के प्रति यह हो सकती है कि इस बच्चे की आत्मा ने जब कि तेरे उदर से शरीर धारण किया है ताकि तू इसकी माता कहलाती है तो तेरा कर्तव्य हो जाता है कि तू इसे ऐसे ढंग से रक्खे ताकि कोई पापमय बुरी आदत न अपना पावे एवं मनुष्यता पर आकर अपना भला कर सके। यह इस प्रकार के विचार से उस बच्चे की सम्भाल रखना सो आत्माश्रित कर्म चेतना है जो कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जीव की होती है। ताकि वह उस पुत्र पालनरूप कार्य के द्वारा पाप में न फंस कर पुण्य का कर्ता होता है। इसी तरह और भी बातों में समझलेना चाहिये जैसें कि कपड़े पहनना सो एक तो अपने को आरामदायक समझ कर यथावित्त अपने मन को भाने वाला अच्छे से अच्छा कपड़ा पहनता है भले ही वह सज्जनों की दृष्टि में उसके देशकालादि के विरुद्ध भी क्यों न हो। और इसी लिये वह उसमें पापोपार्जन करता है परन्तु दूसरा आदमी शोचता है कि मैं अभी गृहस्थावस्था में हूँ मुझे वस्त्र विहीन रहना उचित नही, मुझे कपड़ा पहने रहने की ही गुरुओं की आज्ञा है तो वह अपने पदस्थ के योग्य सुघड़वस्त्र पहरता है और अपना देवाराधनादि का काम निकालता है सो पुण्य कमाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के कार्यों में और

सम्यग्दृष्टि के कार्यो मे अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि की हरेक चेष्टा ही सद्भावना को लेकर होती है अतः वह पापापहारक होकर पुण्य वर्द्धक हुवा करती है किन्तु मिथ्यादृष्टि की वही चेष्टा दुर्भावना को लिये हुये होने से पापमय होती है। वल्कि मिथ्यादृष्टि जीव एक वार के लिये त्याग करके निश्चेष्ट होकर निष्कर्मता की ओर भी आये तो भी वह पाप से मुक्त होकर धर्मात्मपन को नही प्राप्त हो पाता सो नीचे बताते हैं—

नाप्नोतिधर्मंवहिरात्मतातस्त्यक्त्वापिवाह्या न्विषयानिहातः
धर्मात्मतांविज्ञउपैतिवाह्य-त्यागातिगोऽपिच्चमतांविगाह्य ४१

यदृच्छयान्तः करणाँहिजुष्टं ग्रीष्मेणानग्नत्वमितःसदुष्टः।
कष्टं सहन्सभ्यतयैतिवासःश्लाघ्यत्वमाप्नोतिगृहीतदासः ४२

अर्थात्— एक आदमी ने जेठ के महीने मं गर्मी के मारे घबरा कर अपने शरीर पर के तमाम कपड़े उतार कर फैंक दिये और नङ्गा बन गया तो कोई भी उसे अच्छा नही बताता, उलटा दुष्ट कहकर लोग उसका निरादर करतें हैं क्यो कि वह उसकी यदृच्छावृत्ति है उसका मन उसके बिलकुल वशमें नही है। हां जो आदमी गृहस्थ होते हुये सभ्यता के नाते पर उस समय उस कड़ी उष्णता को सहन करते हुये भी कपड़े पहने रहता है उस की बड़ाई है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने वहिरात्मपन से अगर इन बाहरी के विषय भोगों को त्यागकर द्रव्यलिङ्गी मुनि भी बनजाता है तो भी वह धर्मात्मा नही

हो पाता। हां इसकी अपेक्षा से वह धर्मात्मा होता है जो कि अव्रत सम्यग्दृष्टि है, देखने में किसी भी प्रकार का त्यागी नही है। खाना, पहरना, स्त्री प्रसंग करना वगेरह सभी तरह के कार्य करता है परन्तु अन्तरंग में समता को लिये हुये रहता है। उचितपने से हट कर अनुचित पन की ओर कभी भी पैर नहीं रखता इस प्रकार धर्म का धारक होता है जिस धर्म से कि मिथ्या दृष्टि सर्वथा रहित होता है।

धर्मे एवं संध्रियते ऽत्र वस्तु नवस्तु सत्वं तमृते समस्तु।

धर्मो न मिथ्यादृशि एत द्विक्तिः किंस्यादितीदक्क्रियते निरुक्तिः ॥ ४३ ॥

अर्थात् इस पर शङ्काकार का कहना है कि धर्म का धर्मी के साथ मे जव तादात्म्य सम्बन्ध होता है तो धर्म के न होने से तो फिर धर्मी भी नही रह सकता इस लिये मिथ्या-दृष्टि की आत्मा में धर्म बिलकुल नही होता यह कहना कैसे बन सकता है इसका उत्तर निम्न प्रकार है—

नात्मा ऽस्य दृष्टौ भवतीति तावदन्यत्र चैतस्य किलात्मभावः।

अधर्मतामित्यत एति सत्यमसौ स्वभावात्सुतरां निपत्य ॥ ४४ ॥

अर्थात्— धर्मके सर्वथा नही रहने पर तो धर्मी आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये ऐसा तुम्हारा कहना ठीक ही है संसारी जीव की दृष्टि मे आत्मा भी कहां है। इसको समझ मे तो आत्मा का अभाव ही है यह तो आत्मतत्व को स्वीकार

ही नही करता, यदि आत्मतत्व को मानलेवे तो मिथ्यादृष्टि ही क्यों रहे ? यह तो आत्म शब्द का वाच्य इस शरीर को ही माने हुये है अतः स्वभाव से दूर जाकर यानी अपने धर्म से रहित हो कर अधर्मी बन रहा है यह बनी हुई बात है।

विश्वास मासाद्यजिनोक्तवाचिकालेनतत्वार्थमियादसाचि ।
अँगीकृतेधर्मिणिभातुधर्मःसूर्ये प्रकाशःस्फुरतीतिमर्म ॥४५॥

अर्थात्— हां अगर उस आत्म तत्व को जिन्होंने प्रस्फुट कर लिया है ऐसे श्री जिनभगवान के कहने पर विश्वासलावे उसे अपने मनमें धारण करे तो समय पाकर मोह गलने से उस आत्मतत्व का ठीक ठीक मतलब इसकी समझमें आसकता है उसे यह हृदय से स्वीकार कर सकता है और जब आत्मतत्व स्वीकृत होजाता है तो धर्मिके होने पर धर्म फिर सहज है जहां सूर्य है वहां प्रकाश अवश्य होता ही है इतना ही इसका संक्षिप्त भाव है।

नकाललब्धिर्भविनोऽस्तिगम्याक्षयोपशान्तिप्रभृतिं परंयान् ।
जिनोक्ततत्वाध्ययनेप्रयत्नंकुर्याद्यदिष्टप्रविधायिरत्नं ।४६॥

अर्थात्— सो काल लब्धि तो छद्मस्थ के ज्ञान से बाहर की चीज है वह तो इसके अनुभव मे आनेवाली नही है और जब कि मनुष्य शरीर धारण किये हुये है तो जिनवाणी के सुनने एवं समझने की योग्यता अपने आप प्राप्त है फिर अब

कसर ही क्या है ? नैय्या किनारे पर लगी हुई है, यह उठ कर छलांग मारे तो घाट पर आकर खड़ा हो सकता है,इसके करने का काम तो इसे ही चरना चाहिये किन्तु यह तो प्रमादी हो रहा है, प्रथम तो जिन वाणी के सुनने का नाम भी इसे नही भाता अगर कही सुनता भी है कि— यह शरीर धारी जीव पराश्रय मे फंस कर रागी द्वेपी हो रहा है ताकि दुःखी है, यदि पराश्रय को छोड़ दे तो राग द्वेप से भी रहित होकर शुद्ध सच्चिदानन्द वन सकता है ऐसा। तो इसमे से पहले वाली वात को तो पकड़ लेता है कि हां जिन वाणी ठीक कहती है— मैं पराये वश हूँ इस लिये रञ्ज और गम की उलझन से दुःख पाता हूं विलकुल सही वात है इत्यादि मगर आगे वाली वात पर ध्यान नहीं देता, भुला ही देता है। याद भी रखता है तो कहता है कि पराश्रय छूटे तो सुख हो सो पराश्रय का छूटना मेरे हाथ की वात थोड़े ही है,पर की है वह छोडे तो मैं छूटूं। जैसे कि— एक वन्दर ने चनों के घड़े में अपने दोनों हाथ डाल दिये और चनों की मुट्ठी भर कर निकालने लगा घड़े का मुंह छोटा है सो फंस रहता है, शोचता है कि घड़े ने मुझे पकड़ लिया है। या किसी पागलने कौतुकमें आकर किसी खम्भे को अपनी वाथ में भर लिया, दोनों हाथों के कड्ड जोड़ लिये और कहता है कि मुझे खम्भे ने पकड़ लिया है वस ऐसा ही इस संसारी का हाल है। परतन्त्रता की ओर ही तो झुकता है स्वभाव का सम्मान इसकी बुद्धि में नही जम पाता यह इसके

अभ्यास का दोष है क्योंकि ।

यथावलं बुद्धिरुदेतिजन्तोरज्जूवदस्योद्वलितुँ समन्तोः ।
वामस्तुवस्तुप्रतिपत्तिरेवसमाहसम्यग्जिनराजदेवः । ४७।।

अंर्थात्— रागद्वेष वाले इस संसारी जीव की बुद्धि एक रस्सी सरीखी है । रस्सीको जिधरका जैसा वल मिलता है उधर की ही तर्फ उसका घुमाव होता रहता है एवं पूर्व वल के अनुसार उधर की तरफ को उस का घुमाव एक अनायास सरीखा हो जाया करता है फिर उसको अगर उवलना चाहे उसमे दूसरा वल लाना चाहें या उसे उधेड़ना चाहे तो वह कठिन सा हो जाता है जरासी असावधानता में हाथ मे से छूट कर वापिस उधर को ही घूम जाया करती है वैसे ही इस संसारी जीव की बुद्धि को अनादि काल से परपरिणति का वल प्राप्त हो रहा है अतः उधर को तरफ का घुमाव इसके लिये एक सहज सा बन गया हुवा है अब उसको वदल कर उसमें दूसरा वल यदि लाना चाहे, उसे स्वभाव की ओर घुमाना चाहे तो घुमाते घुमाते भी खिशक कर अपने चिर अभ्यास के कारण परपरिणति पर ही चल पड़ती है सरल नहीं रहती है । अतः वस्तुस्वरूप खूटे में उसे अटका कर विचार रूप हाथ में दृढ़ता के साथ थाम्भ कर पुनः पुनः घुमाया जावे तो कहीं वह ठीक हो पाती है ऐसा जिन भगवान का कहना है । मतलव उसको ठीक वनाने के लिये इस प्रकार तत्वाभ्यास के

सिवाय और कोई साधन नही है। अस्तु। जैनागमका अभ्यास करते २ जो अपने श्रद्धान को तात्विक वना लेता है उसमें प्रशमादि गुण सहज हो जाते है सो ही नीचे वता रहे हैं—

तत्वार्थमाश्रद्दधतोऽमुकस्यमहाशयस्यप्रशमःप्रशस्यः।
वतःसमस्तेजगतोऽर्थभारेऽनुद्विग्नताऽनिष्टसमिष्टसारे ४८

अर्थात्— अपने श्रद्धान को ठीक वना लेने पर एक तो उस महाशय के चित्त में प्रशम गुण स्फुरित हो लेता है। ताकि इस दुनियां के सम्पूर्ण पदार्थों में से किसी को भला और किसी को बुरा मान कर भयभीत नही वनता है। यद्यपि चरित्र मोह के उदय से जव तक कर्म चेतना या कर्मफल चेतना मय प्रवृत्त होता हुवा वुद्धि पूर्वक किसी भी कार्य को करता है तो उसमें बाधक होने वाले पदार्थ से बच कर उसके साधक कारण कलाप को अपनाये हुये रहता है, अपने अनुकूल निमित्त को इष्ट मानकर उसे प्राप्त करने और वनाये रखने की एवं प्रतिकूल निमित्त को दूर करने की चेष्टा भी करता है, किन्तु पूर्व की तरह उन्ही के पीछे नही लगा रहता। जैसे कि सीता रामचन्द्र को वड़ी प्यारी थी, सब राणियों की शिर मोर सारी थी क्योंकि शील सन्तोषादि फूलों की फुलवारी थी परन्तु जब उसकी वजह से भी अवर्णवाद होता हुवा पाया तो झट उसे भी जङ्गल का राह दिखाया, उस पर जरा भी जी नही लुभाया वह उनके अन्तरङ्ग में होनेवालेप्रशमगुण की ही तो महिमा

थी इसी प्रकार से—

युद्धादिकार्ये व्रजतोऽप्यमुष्य सम्वेगभावोहृदयं प्रपुष्य ।
प्रवर्ततेतेनविवेकखानिरयंसमायातिकुकर्महानिं ॥ ४६ ॥

अर्थात्— उस सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में सम्वेग भाव भी हर समय बना रहता है। दुनियांदारी के कार्यों में उत्सुकता उदासपन किन्तु धर्म के विषय में तत्परता होने को सम्वेग कहते हैं। सो यह गुण भी उसमें अखण्ड होता है ताकि अपनी तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार भले ही उसे युद्धादि सरीखे कठोर कार्यों में प्रवृत होना पड़े परन्तु वहां पर भी वह विचार से काम लेता है, उचितपन को छोड़ कर अनुचित पन की तरफ कभी नहीं जाता है। देखो कि महाभारत में कौरवों ने अनेक तरह के दुष्प्रहार किये, अभिमन्यु सरीखे बालक को विश्वास दिलाकर बुरी तरह से मार गिराया था उन्हें परास्त कर डालने की अर्जुन की पूर्ण प्रतिज्ञा और अभिलासा भी थी परन्तु जब गुरु द्रोणाचार्य उसके सम्मुख आ डटे और निर्दयता से उसके उपर प्रहार करने लगे तो आप ही तो उस प्रहार से बचने की चेष्टा करता था किन्तु द्रोणाचार्य पर बदले का प्रहार नही करता था, भले ही उस ऐसा करने में द्रोण के बाणों से उस अर्जुन की महती सेना नष्ट होती रही, उस क्षति को भी सहन करता रहा बाकी गुरुदेव पर हाथ चलाना मेरा कार्य नहीं यह सोचते रह कर उसने द्रोण के वाक्

कभी नहीं मारा! मुझे तो मेरा कार्य सिद्ध करना है, कौरवों की पक्ष का निपात करना है फिर चाहे वह गुरु हो या और कोई ऐसा दुर्विचार कभी नहीं किया क्योंकि वह मानता था कि— हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ। तो फिर इस संसार, में क्यों कीजे दुर्वात ॥ इस कहावत के अनुसार जो होना है सो होगा, हमें विजय मिलनी है सो मिलेहीगी और नहीं तो। फिर हम कैसा भी क्यों न करे, कुछ नही होगा। सांसारिक कार्यों में तो प्रधान बल दैव का ही होता है, बन्दा तो अपने दो हाथ दिखाया करता है। देखो रावण ने अपना उल्लू सीधा करने के लिये क्या कसर बाकी छोड़ी था परन्तु उस का बल उसी को खागया, उसी के चक्र ने उसका शिर काट डाला। सुभौम को उसके भाग्य ने साथ दिया तो परशुराम की भोजन शाला में उसके लिये दिया हुवा थाल ही सुदर्शन चक्र बन करके उसकी सहायता करने लगा और समुद्र के बीच मे उसे एक व्यन्तर ने बात की बात में मार डाला। इत्यादि बातों से मानना पड़ता है कि मनुष्य का किया कुछ नही होता फिर व्यर्थ के प्रलोभन मे पड़ कर कुकर्म क्यों किया जावे इस प्रकार शोचता हुवा वह सदा कर्तव्य-परायण बना रहता है अपने ऊपर होने वाली आपत्ति का कुछ विचार न करके औरों को विपत्ति से मुक्त कर रखने की चेष्टा करता है देखो—

भवन्निजापत्सिषुवज्रतुल्यःसञ्जायतेऽसौनवनीतमूल्यः ।
दीनंदरिद्रं खलुदुःखिनम्वाऽवलोक्यचित्ते करुणावलम्वात् ५०

अर्थात्— जब धवल सेठ के दिये हुये प्रलोभन से भाण्डों ने श्रीपाल को अपना भाई बेटा बताकर गुणमाला के पिता कुंकुमेश को बरगलालिया तो राजा की आज्ञानुसार श्री पाल जी निःसङ्कोच होकर शूलीपर चढने को चल दिये किन्तु फिर जब सत्य बात खुल गई और राजा ने अपनी आज्ञा बदल कर श्रीपाल के स्थान पर धवल सेठ को और उन भाण्डों को मार डालने के लिये कहा तो श्रीपाल जी ही दयार्द्र होकर राजा से कहने लगे कि राजन्– इन भाण्डों का तो दोष ही क्या है? ये बिचारे तो दीन अनाथ हैं इनका तो यह पेसा है और धवल सेठ जी मेरे धर्म पिता हैं इन्होंने तो मेरे लिये जो कुछ किया है, अच्छा ही किया है अगर ये ऐसा न करते तो मेरा आपके साथ सम्बन्ध कैसे बनता यों कह कर सब को बरी करा दिया सो बस यही बात इस वृत्त में बतलाई गई है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप पर आई हुई आपत्ति में तो वज्र की तरह कठोर बन जाता है किन्तु दूसरों को दुःख सङ्कट में पड़े देख कर मक्खन की सी भांति पिंघल पड़ता है यही उसका अनुकम्पा गुण है क्योंकि वह यह अच्छी तरह से जानता है कि यह शरीरधारी जीव अपने किये का फल आप ही पा लेता है सो ही बताते हैं —

यतःसदास्तिक्यमुदेतिचेतस्यमुष्यया दृग्भविनाक्रियेत
तदेवमुक्तोऽत्तउदारबुद्ध्याऽर्हतोऽनुगत्वं कुरुतेत्रिशुद्ध्या ५१

अर्थात्— सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि जो जैसा करता है वैसा स्वयं भरता है, जो जहर खाता है वही मरता है और जो मिश्री चखता है उसका मुंह मीठा होजाया करता है। दूसरा कोई किसी का क्या कर सकता है, कुछ नहीं देखो वैद्य सभी रोगियों को नीरोग करना चाहता है यह उसकी सद्भावना है, परन्तु रोग मुक्त होता है वही जो कि अपने भविष्यत्सातोदय को लिये हुये होकर उसकी औषधिका ठीक सदुपयोग करता है। धीमर तालाव की सभी मछलियों को पकड़ना चाहता है मगर पकड़ी वे ही जाती हैं जो कि अपनी चपलता के कारण उसके जाल में आ गिरती हैं, वरना उसका प्रयोग व्यर्थ जाता है, फिर भी धीमर अपनी दुर्भावना से पाप का भार अपने मत्थे लेता है और उससे नरक में जाता है जहां कष्ट पाता है। वैद्य अपनी सद्भावना के द्वारा स्वर्ग का भागी होजाता है। स्वर्ग नरक एवं पुनर्जन्म भी अवश्य है क्यों कि एक माता पिता के एक रजोवीर्य से पैदा होने वाले लोगों में रावण और विभीषण का सा बहुत कुछ भेद देखने में आता है बल्कि एक सहवास से और एक साथ में पैदा होने वाली सन्तानें भी एक स्वभाववाली और एक सरीखी नहीं होतीं तो इसमें उनका पुण्य पाप ही तो कारण है और

दूसरा क्या हो सकता है। जैसा कि एक दोहा में लिखा है—

अपनी करनी से बने यह जन चोर चिभोर।
उरझत सुरझत आप ही ध्वजा पवन झकझोर ॥१॥

मन्दिर के ऊपर होने वाली ध्वजा, हवा का निमित्त पाकर जिधर को झुकाव खाती है उसी बल होकर दण्डे में लिपट रहती है,कभी इधर से उधर तो कभी उधर से इधर और हवा जब कम हो जाती है या बन्द सी हो रहती है तब ध्वजा भी सरल सीधी हो लेती है तथा स्थिर हो जाया करती है वैसे ही संसारी प्राणी का हाल है जब बुरी वासना में पड़ता है तो अपने आप ही बुराइयों की ओर जाकर चोर चुगलखोर बनते हुये आप ही कष्ट उठाता है और जब सद्भावना को लेकर भलाई करने मे लगता है तो समाश्वासन प्राप्त करता है किन्तु इससे भी जब आगे बढता है तो बाह्य वासना से रहित होते हुये सिर्फ 'परमात्मानुभवन में तल्लीन होकर अपने मन को स्थिर बना लेता है तो सदा के लिये निराकुल भी बन सकता है इस प्रकार के सुविशद विचार का नाम ही आस्तिक्य भाव है जिसको कि लेकर आत्मा से परमात्मा बनने का अटल सिद्धांत इसके दिल मे घर किये हुये रहता है ताकि यह अपने मन वचन और काय से सरलता के साथ श्री अर्हन्त भगवान का अनुयायी हो रहता है।

ध्यानादहोधर्ममयोरुधाम्न उदेतिवाऽऽज्ञाविचयादिनाम्नः।
सम्यग्दृशोभात्रचतुष्कमेतत्पर्येत्यमीषुस्फुटमस्यचेतः ॥५२॥

अर्थात्— सम्यग्दृष्टि जीव के उपर्युक्त-प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चारों भावों का क्रमशः आज्ञा-विचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्म ध्यानों के साथ में कार्य कारण सम्बन्ध है आज्ञा विचयादि धर्म ध्यान कारण रूप होता है और प्रशमादि भाव उसका कार्य क्योंकि बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना का न होना या कम से कम होना सो प्रशम भाव है जो कि श्री अरहन्त भगवान की आज्ञानुसार न तो कोई पदार्थ इष्ट ही है और न अनिष्ट ही इस प्रकार के विचार को लेकर प्रसूत होता है। विषय भोगों में अनुत्सेक भाव का होना सो सम्वेग है जो कि इन विषय भोगों में फंस कर ही यह दुनियांदारी का जीव अपना अपाय यानी बुरा करता है बिगाड़ कर जाता है इस प्रकार के धर्म ध्यानमूलक होता है। किसी भी जीव को दुःख सङ्कट में पड़ा देख कर उसके उद्धार का भाव होना अनुकम्पाभाव है सो इस के पूर्व में ऐसे विचार का होना अवश्यम्भावी है कि देखो यह अपने पापोदय से कैसा कष्ट मे पड़ा हुवा है और ऐसे विचार का होना ही विपाक विचय धर्म ध्यान है जिसके कि होने पर उसे उस कष्ट से मुक्त करने की चेष्टा की जाती है। संस्थान विचय तो पदार्थ के स्वरूप पर विचार करने का नाम है जो कि आस्तिक्यभाव का मूलाधार ही है एवं ये चारों ही भाव धर्म ध्यानमूलक हुवा करते हैं जिनमें कि यह सम्यग्दृष्टि-जीव परिवर्तित होता रहता है और जहां इन से पार हुवा कि

शुक्लध्यान मे पहुंच जाता है, जब कि इस का उपयोग बाह्य-पदार्थालम्बन से रहित हो लेता है । यानी गृहस्थावस्था में जहां तक कि शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जरा सा भी लगाव इस मानव का इस दुनियांदारी में होने वाली आत्मेत्तर बातों के साथ रहता है तब तक शुक्ल ध्यान तो क्या धर्मध्यान की भी रूपातीतावस्था नही हो पाती क्यो कि उसके लिये सुदृढ़ मानसिक बल की आवश्यकता होती है जो कि गृहस्थावस्था मे असम्भव है । अतः वहां पर सिर्फ संस्थान विचय के चार भेदों मे से- पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नाम धर्मध्यान ही यथा सम्भव हुवा करता है, ऐसा हमारे ध्यान-प्रतिपादक शास्त्रों में बतलाया गया हुवा है । किन्तु आर्तरौद्र परिणामों को इसकी आत्मा में कभी अवसर ही नही मिलपाता ताकि भविष्य के लिये नरक और तिर्यक् पन का अभाव हो जाता है । यद्यपि हमारे आगम में बतलाया गया है कि आर्तध्यान छटे गुणस्थान के अन्त तक एवं रौद्रध्यान पञ्चम-गुणस्थान में भी होता है, मगर वह भी धर्ममूलक ही होता है । जैसे कि शूकर को सिंह पर प्रहार करते समय रौद्रध्यान था परन्तु वह मुनिराज को बचाये रखने के लिये वैय्यावृत्य परक था । तथा किसी चुगलखोर के कहने को सुनकर राजा ने राजमन्त्री से पुछा कि क्या तुम्हारे गुरु कोढी है, मन्त्री ने गुरु भक्ति में आकर कह दिया कि नही महाराज मुनिराज के और कोढ का क्या काम, इस पर राजा ने कहा कि हां तो

सबेरे ही हम उनके दर्शन करने को चलेंगे और अगर कहीं कोढी निकले तो फिर उनका बहिष्यकार करना होगा। इस पर मन्त्री को बड़ीभारी चिन्ता हुई कि हाय अब क्या किया जाय, मुनिमहाराज पर सवेरा होते ही उपसर्ग आवेगा वह कैसे दूर हो ऐसी। बस तो सम्यग्दृष्टि जीव के जहां कही भी आर्तरौद्र परिणाम होते है वे सब ऐसे ही सद्भावनात्मक होते हैं। मिथ्यादृष्टि की भांति एकान्तरूप से अपने शरीर और इन्द्रियों के सन्तर्पणरूप दुर्भावना को लिये हुये कभी नही होते। अस्तु।

शङ्का - सम्यग्दृष्टि के प्रशमादि गुणों को आपने धर्मध्यान बतलाया सो हमारी समझ में नही आया क्यों कि प्रशमादि भाव तो शुभ राग रूप होते हैं, शुभ राग को धर्ममानना तो भूल है, धर्म तो आत्मा के स्वभाव का नाम है शुद्ध सहज वीतराग भाव का नाम है जिसका कि चिन्तवन करना ही धर्मध्यान कहा जाना चाहिये।

उत्तर— धर्म, आपके सहज शुद्ध पारिणामिक भाव का ही नाम न होकर भाव मात्र का नाम धर्म है। धर्म परिणाम भाव अवस्था परिस्थिति अन्त और तत्व ये शब्द एकार्थ वाचक हैं। जो कि जीव के भाव संक्षिप्तरूप से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इस तरह पांच भागों में विभक्त किये गये हैं, जैसा कि श्री तत्वार्थसूत्र महाशास्त्र में बतलाया गया हुवा है एवं इन पांचों ही तरह के भावों का

चिन्तवन अनुमनन धर्मध्यानमे हुवा करता है जेसे कि अपायविचय मे उस जीव को गिरी हुई हालत का और विपाक विचय में कर्मो के फल का यानी औदयिक भाव का विचार रहता है इसी प्रकार से और भी समझ लेना चाहिये।

शङ्का— कानजी की (रामजी माणेकचन्द दोषी द्वारा लिखित) तत्वार्थसूत्र टीका मे प्रथमाध्याय की दूसरे सूत्र की टीका मे पृष्ठ १५ मे लिखा है— ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नही मानता कि शुभ राग से धर्म होता मे या धर्म मे सहायता मिलती है। एवं कान जी कहते है कि वीतरागता का नाम ही धर्म है सरागता में धर्ममानना मिथ्या है।

उत्तर— भैय्या जी हमारे मान्य आचार्यों ने तो वीतरागतां को ही धर्म न मानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म बतलाया है जो कि सराग और वीतराग दोनो तरह का होता है। हां यह वात दूसरी कि सराग धर्म यानी व्यवहार मोक्ष मार्ग जो है वह साधनरूप होता है और वीतराग धर्म यानी निश्चय मोक्ष मार्ग, उसके द्वारा साध्य अर्थात्-सराग धर्म पूर्वज है तो वीतरागधर्म उसके उत्तरकाल में होने वाला दोनों में परस्पर कारण-कार्य भाव है ऐसा हमारे इतर ग्रन्थ प्रणेता प्रामाणिक आचार्यो ने तो सभी ने लिखा ही है परन्तु परमाध्यात्मरस के रसैय्या श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी अपनी तत्वार्थसार नाम कृति मे ऐसा ही लिखा है—

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधास्थितः।

तत्राद्य:साध्यरूप:स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं ॥-॥

आचार्य महाराज कहरहे है कि जिसका तत्वार्थसूत्रमें वर्णनकिया गया हुवा है और जिसका पुनरुद्धार इस तत्वार्थसार मे किया गया है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग (धर्म) जो है सो निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है। निश्चय मोक्षमार्ग तो साध्य यानी प्राप्त करने के योग्य और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन यानी उपाय है। इन्ही आचार्य श्री ने इस तत्वार्थसार के प्रारम्भ मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लक्षण भी इस प्रकार लिखा है—

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग् ज्ञानं स्याद्‌दवबोधनं।
उपेक्षणंतु चारित्रं तत्वार्थानां सुनिश्चित ॥ ४ ॥

अर्थात्— तत्वार्थ का ठीक ठीक श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन, तत्वार्थो का जानना सो सम्यग्ज्ञान और तत्वार्थो के प्रति उपेक्षाभाव का होना सो सम्यक् चारित्र है। मतलब आचार्य श्री बतला रहे हैं कि तत्वार्थ श्रद्धान यह लक्षण न तो सिर्फ व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही लक्षण है और न वह अकेले निश्चय सम्यग्दर्शन का ही किन्तु यह लक्षण निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन का व्यापक लक्षण है। उसी प्रकार तत्वार्थो का ठीक जानना दोनों प्रकार के सम्यग्ज्ञान का और उपेक्षा करना दोनों तरह के सम्यक् चारित्र का। अब इस पर यह जानने की उत्कण्ठा होजाती है कि तो फिर निश्चय

और व्यवहार यह भेद क्यों और कैसा इस पर लिखा है —

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः
सम्यक्त्व ज्ञान वृत्तात्मा मोक्ष-मार्गः सनिश्चयः ॥३॥

अर्थात् - अपनी शुद्धात्मा के साथ एकता तन्मयता लिये हुये तत्वों का श्रद्धान रखना, जानना, और उपेक्षा करना रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का होना सो निश्चय मोक्ष मार्ग है किन्तु इससे पहले—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना
सम्यक्त्वज्ञान वृत्तात्मा समार्गो व्यवहारतः ॥४॥

भिन्न रूप से सातों तत्वो का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षण रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र होता है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। मतलब यह हुवा कि जब तक यह प्राणी जीवादि सातो तत्वों को अपने उपयोग में क्रमा किये हुये रह कर उनका श्रद्धान ज्ञान पूर्वक उनसे उपेक्षा धारण करता है तो वहां और भी कहीं नही तो अपने आप (आत्म द्रव्य) में उपादेय बुद्धि बनी हुई रहती है जो कि रागांशमय होती है। अतः वहाँ तक की इसकी चेष्टा को व्यवहार धर्म या मोक्ष मार्ग कहा जाता है परन्तु इससे आगे चल कर जहां पर अपनी शुद्धात्मामय ही उपेक्षण (चारित्र) होलेता है यानी आत्मा पर की भी उपादेय बुद्धिरूप सविकल्प दशा दूर होकर पूर्ण वीतरागरूप शुद्ध दशा हो लेती है उस अवस्था का नाम निश्चय मोक्षमार्ग है। जहां पर कि दर्शनमोह की भांति चारित्रमोह भी नष्ट होकर अभिन्न

रत्नत्रय हो लेता है जैसा कि निम्न श्लोक में कहा है—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः
स्वस्थो दर्शन चारित्र-मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

तथा तत्वार्थसूत्र महाशास्त्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने तो छट्टी अध्याय में-

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादि-
योगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकाम-
निर्जरा बालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ इन सूत्रों में बिलकुल स्पष्ट कर रखा है कि- सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप धर्म सराग भी होता है और वीतराग भी, सो वीतराग धर्म तो सर्वथा अबन्धकर होता है किन्तु सराग धर्म की अवस्था मे घोर पूर्वबन्ध का अभाव होकर आगे के लिये प्रशस्त स्वल्पबन्ध होता है जो कि मुक्तिका अविरोधी, सहायक कारण होता है। और ऐसा ही खुद श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी तो श्री प्रवचनसारमें लिखा है देखो—

सम्पज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयराय विहवेहिं
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाण पहाणादो ॥६॥

अर्थात्— सम्यग्दर्शन और ज्ञान सहित होने वाले चारित्र गुण के द्वारा इस जीव को, देव विद्याधर और भूमिगोचरियों के राज्य वैभव के साथ साथ निर्वाण सुख की

प्राप्ति होती है यानी सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित- चारित्र रूप जो धर्म है वह दो प्रकारका होता है एक सराग और दूसरा विराग उसमे सरागधर्म से अशुभ वन्ध का अभाव होकर प्रशस्त-शुभबन्ध होता है ताकि यह जीव इन्द्रतीर्थङ्कर चक्रवर्ति सरीखे पद पाकर फिर निर्वाणपद प्राप्त करने का पात्र होता है और वीतरागधर्म से तो उसी भव में मुक्त हो लेता है । जैसा कि तात्पर्यवृत्ति मे भी लिखा है—

आत्माधीन–ज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्येयन्निश्चल-निर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्रा-ज्जीवस्य सम्पद्यते पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणं । सरागचरित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराज्यविभवजनको मुख्यवृत्याविशिष्टपुण्यवन्धो भवति परम्परया निर्वाणंचेति

इसके अलावा अगर वीतरागताको ही धर्म कहा जावेगा तो फिर दशवेंगुण स्थान तक के सभी जीव धर्मशून्य ठहरेंगे किन्तु धर्म का प्रारम्भ चोथे गुणस्थान से ही होलेता है—

शङ्का—चतुर्थादि गुणस्थानों मे भी आत्माके जितने जितने अंशमें वीतरागता हो लेती है उतने उतने अंश में वहां भी धर्म होता है और जितने जितने अंश में राग रहता है उतने अंशमे अधर्म, इसमें क्या वात है ?

उत्तर— तो फिर जहां पर राग है वहां, (उसी आत्मा मे) धर्म भी तो होगया । एवं दोनों का एक साथ एक आत्मा में रहना

ही सहायता या मैत्री कहलाती है जैसाकि खुद कुन्दकुन्द स्वामी ने भी अपने प्रवचनसार मे वतलाया है। यानी तीव्र (अशुभ) अनन्तानुवन्धि रूप राग होगा वहां सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म नही हो सकता क्योंकि तीव्ररागभाव के साथ उसका विरोध है किन्तु जहा मन्दराग होता है वहा व्यवहार धर्म भी होता है जैसा कि तुम भी कह रहे हो। अव रही जितने २ अश की वात सो आत्माके अंश यानी प्रदेश असख्यात हैं उनमें से कुछ प्रदेशों में से तो राग नष्ट होजावे और कुछ प्रदेशों मे राग वैसा का वैसा ही वना रहे, ऐसा तो हो नही सकता किन्तु आत्मामे जो राग यानी कषायभाव था उसमें से कुछ कम होगया वह जो पहले गहरा था (मिथ्यात्वदशा मे) जोरदार था सो अव सम्यक्त्व दशा में हलका होलिया जो कि हलका राग आत्मा के हर प्रदेश में है और उसी मन्दराग या प्रशस्त (शुभ) राग का नाम वीतरागता होकर वह धर्म होता है। जैसा कि एक कपड़ा गहरा रङ्गदिया था उस पर सूर्य की घाम लग कर उसका गहरापन हटगया और अव हलका पीला रह गया तो जिसका ख्याल गहरे रङ्ग की तरफ हो जाता है वह तो कहता है कि अरे इसका तो रंग उड़ गया यह तो विगड़ा होगया परन्तु जिसका विचार पिलाईमात्र पर है वह कहता है कि नही रङ्ग कहां उड़ गया अव भी तो इसमे जरदी है।

किञ्च एक गृहस्थ वाजार से गेहूँ खरीद करके लाया, जिनमे मोटे और महीन कई तरह के वहुत कङ्कर थे उनमे से

कङ्करोंको चुगा जानेलगा तो मोटे मोटे कङ्करों को झट निकाल वाहर करदिया गया। अब जो बुढ्ढा था जिसकी नजर कमजोर थी वह तो बोला कि अब तो गेहूं कंकर रहित हो गये परन्तु जवान आदमी जिसकी कि नजर तेज थी वह बोला कि नही अब भी इन में कंकर है। बस तो इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से तो चतुर्थादि गुणस्थानों मे अनन्तानुवन्ध्यादि कषाय न होने से राग का अभाव होता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय होती है अतः वही रागभाव भी होता है एवं इस मन्दराग (शुभराग) को धर्म मानना या सरागता मे धर्म मानना मिथ्या कैसे हुवा सही ही तो रहा। हां वह धर्म पर्याप्त न होकर अपर्याप्त होता है अतः सर्वथा अवन्ध न होकर प्रशस्तवन्थविधायक हुवा करता है। इस बातको बताने के लिये ही इसे व्यवहार धर्म कहाजाता है। जो कि निश्चय धर्म का कारण होता है। ऐसा न मान कर राग को ही धर्म मानलेना सो अवश्य मिथ्यात्व है क्यों कि जो राग को धर्म मानेगा वह तो राग की वृद्धि करने मे यत्न करेगा इस प्रकार से वह अपना बिगाड़ कर जावेगा। परन्तु तीव्रराग की अपेक्षा से मन्दराग को धर्म मानने में यह बात नही है वहां तो यह दृष्टि होती है कि तीव्र के स्थान पर मन्दराग जब धर्म है तो अतिमन्दराग और भी अधिक धर्म हुवा तथा राग का बिलकुल न होना सो पूर्णधर्म हुवा। एवं तीव्रराग की अपेक्षा से मन्दराग को धर्म माननेवाला धीरे धीरे अपने राग

को सर्वथा हटाकर पूर्णधर्मात्मा वन जाता है और इस लिये मन्दरागरूप व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका कारण कहागया है।

शङ्का— इस तरह से भी निश्चय मोक्षमार्ग का कारण व्यवहार मोक्षमार्ग न होकर व्यवहार मोक्षमार्ग का नाश उस (निश्चयमोक्षमार्ग) का कारण ठहरता है। देखो कानजी (रामजीमाणेकचन्द) कृत तत्वार्थसूत्र टीका का अन्तिम परिशिष्ट पृष्ठ ८०७ की पंक्ति १३ से आगे)

उत्तर— भैय्या जी जरा शोचो तो सही क्या कह रहे हो तुम तो खुद ही समझदार हो। ऐसा कहना ठीक नही क्यों कि व्यवहारधर्म का प्रध्वंश और निश्चयधर्म का होना ये दोनों भिन्न भिन्न नही होते। अगर भिन्न माना जावे तो फिर वह नाश क्या चीज रही, कुछ नही। एवं तुच्छाभाव की जैन शासन में तो विलकुल मान्यता है नही। ऐसा तो नैयायिक मतवाले मानते हैं। जैनमत यह कहता है कि-पूर्व (कारणरूप) अवस्था का नाश ही उत्तर (कार्यरूप) अवस्था का होना है। जैसा कि श्रीसन्तभद्र स्वामी ने देवागमस्तोत्र के कार्योत्पादः क्षयोहेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् इस सूक्तमे स्पष्ट कहा है। जैसे कि मिट्टीकीस्थासरूप पर्याय का विध्वंश ही कोशपर्यायक। उत्पाद, कोशपर्यायका विध्वंश ही कुशूलपर्याय का उत्पाद और कुशूलपर्याय का विनाश ही तदुत्तर घटपर्याय का उत्पाद है दोनों एक कालीन हैं उनमें कोई समय भेद नही होता। इनमें पूर्व २ अवस्था कारण और उत्तरोत्तर अवस्था उसका कार्य है

वैसे ही व्यवहारधर्म का विध्वंश यानी पूर्ण होना ही निश्चय धर्म का होना है अतः व्यवहार धर्म कारण है तो निश्चय धर्म उसका कार्य, 'जैसा कि हमारे पूर्वाचार्यों ने जगह जगह बतलाया है।

शंका— श्रीपरमात्माप्रकाश जी की संस्कृत टीका में पृष्ठ १४२ पर इस प्रकार प्रश्न उठाकर कि-निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नही तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे हुवा, इसके उत्तर मे बतलाया है कि-भूतनैगमनय की अपेक्षा से परम्परा से साधक होता है, अर्थात्—पहले वह था किन्तु वर्तमान में नही है तथापि भूतनैगमनय से वह है ऐसा संकल्पकर के उसे साधक कहा है यों लिखा है।

उत्तर— भैय्या जी ! वहां अगर यह लिखा है तो ठीक ही तो लिखा है क्योंकि मोक्ष १ निश्चयमोक्षमार्ग २ व्यवहारमोक्षमार्ग ३ इसप्रकार तीनबात हुई सो व्यवहारमोक्षमार्ग तो निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है और निश्चयमोक्षमार्ग मोक्ष का कारण। अब व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का जो कारण बताया जाय तो वह मोक्ष की तो परम्परा कारण ही है। साक्षात् कारण तो वह (व्यवहार मोक्षमार्ग) निश्चयमोक्षमार्ग का होता है, जैसा कि तत्वार्थसारकार लिख रहे हैं।

शंका— आपने ऊपर जो व्यवहार धर्म और मन्दराग को एक बतलाया सो कैसे ? क्यों कि धर्म तो सम्यग्दर्शनादिरूप है

जो कि औपशमिकादि भावमय होता है और राग है सो औदयिकभाव है।

उत्तर— तुम्हारा कहना ठीक है राग औदयिक ही होता है और सम्यग्दर्शनादि धर्म उससे विरुद्ध औपशमिकादिभावरूप मगर मन्दराग जो होता है वह औपशमिकादिभाव रूपता को एवं औदयिकपन को भी लिये हुये उभय रूप होता है। रागमें जो मन्दता होती है वह उपशमादि द्वारा ही तो आती है अन्यथा कैसे आसकती है। एवं राग और धर्म एक साथ होते हैं उसीका नाम सरागधर्म या व्यवहार धर्म है उसके साथ चित्त की उपयोगरूप लग्न होती है उसे धर्मध्यान कहते हैं।

शङ्का— आप तो कहते हैं कि धर्मध्यानमें यथासम्भव औदयिकादि पांचों भावों का ही चिन्तवन होता है किन्तु समयसारजी की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति में लिखा हुवा है कि औपशमिकादिरूप अशुद्धपारिणामिकभाव त ध्यानरूप होता है तथा शुद्धपारिणामिक भावध्येय यानी उस ध्यान के द्वारा चिन्तवन करनेयोग्य ऐसा देखोगा ०३२० की वृत्तिः

उत्तर— वहां पर जो लिखा गया हुवा है वह शुक्ल-ध्यान को लक्ष्य करके उसकी बावत मे लिखा गया है। धर्मध्यान में तो सभी भावध्येय होवे हैं, देखो श्री चामुण्डराय कृत चारित्रसार में लिखा है कि आज्ञाविचय धर्मध्यान में गति आदि चोदह मार्गणावों द्वारा तथा चोदह गुणस्थानों द्वारा जीवका चिन्तवन

जैनागमानुसारसे किया जाता है इत्यादि। तथा द्वादशानुप्रेक्षा-रूप संस्थान विचयधर्मध्यानमे भी पांचों ही भावोंका चिन्तवन यथास्थान होता है। अतः मानना ही चाहिये कि धर्मध्यान जो होता है वह औपशमिकादि सभी भावों के विचारों को विषय लेकर प्रसूत होता है। जो कि धर्मध्यान चतुर्थादि गुण स्थानोंमें होकर प्रशम संवेगादि सद्भावों को प्रस्फुट करने वाला होता है एवं सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व को इतर छद्मस्थलोग इन प्रशमादि भावों के द्वारा ही जान सकते हैं ऐसा नीचेबताते हैं—

सम्यक्त्वमव्यक्तमपीत्युदारैर्व्यक्तीभवत्येव जगत्सु सारैः
अष्टाविहाङ्गानि भवन्ति तस्य समुच्यतेयानिमया समयस्य ५ ३

अर्थात्— सम्यग्दर्शन यह आत्मा का परिणाम है जो कि उत्पन्न होकर भी आत्मा में अव्यक्तरूप रहता है, सर्वसाधारण की निगाह में आनेकी यह चीज नही है। मगर उपर्युक्त प्रशमादिभाव जो कि उदारतारूप होते हैं सो इनके द्वारा हम उसको पहिचान सकते हैं। जैसे रसोईघर में छिपीहुई अग्निको, उसमें से होकर उपर आकाश में फैलने वाली धूवां के सहारे से जानलिया जाता है। यद्यपि प्रशमादिभाव नाम मात्र के लिये कभी कभी मिथ्यादृष्टि में भी होजाया करते हैं किन्तु वे सब और ही तरह के होते हैं, जैसे कि वामी से उठनेवाली धूसर धूवां सरीखी होकर भी धूवां की बराबरी नही करसकती जरा भी गौर करने पर उसमें स्पष्ट भेद दिख पड़ता है अतः

समझदार आदमी भ्रम मे नही पड़ सकता। एवं निःशाङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थिति करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ भाव और होते हैं जो कि सम्यग्दर्शन के अंग कहलाते है जिनका कि वर्णन क्रमश. संक्षेप से नीचे किया जावेगा। जैसे कि मनुष्य शरीर मे शिर, हाथ, पैर वगैरह अवयव होते है वैसे ही सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग होते है जो कि सम्यग्दर्शन से कथंचिद्‌भेद लिये हुये होते हैं। सो किसी मनुष्य के अगर हाथ कट गये या पैर टूट गये तो वह बिलकुल नष्ट ही होजाता हो सो बात नही मगर बेकार जरूर होजाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि के भी इन अंगो मे से कभी किसी में कोई कमी भी रहजाती है। एवं किसी का कोई अंग खासतौर से पुष्टि पाजाता है जिसको कि लेकर उस के गीत गाये जाया करते हैं। अस्तु। इनमे से सबसे पहिला अंग तो निःशाङ्कित है जो कि शरीर के समान है उसका स्वरूप यह है—

मतंजिनोक्तंचपरोदितञ्चसमानमेवेतिमतिप्रपञ्चः
कदापिनैतस्यसुवर्णरीत्यात्मतातुसम्भिन्निकषप्रतीत्या ।५४॥

अर्थात् जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित मत भी एक मत है जैसे कि इस भूतल पर और भी अनेक मत हैं। उनमें कही गईहुई सभी बाते बिलकुल ही झूठी हो सो बात नही एवं जैनमत मे कही हुई भी सभी बातें सोलहो आने सही ही हों

सो भी नही कहा जा सकता इस प्रकार के विचार का नाम शङ्कादोष है सो सम्यग्दृष्टि के अन्तरङ्ग मे कभी नही हो सकता क्योंकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि जैनमत सर्वज्ञ-प्रणीत है उसमें गलती के लिये जगह कहां और बाकी के मत अल्पज्ञांके द्वारा अपने अपने अन्दाज पर खड़े किये हुये हैं वहां पर सत्य का लेन देन क्या ! और अगर जैन धर्म से मिलती हुई बात घुणाक्षर न्याय से वहां कही आभी गई तो उसका वहां मूल्य भी क्या है कुछ नही। अतः जैनमत और इतरमतो मे परस्पर इतना अन्तर है जितना कि सोना और पीतल में होता है। हां यह भले ही कहा जासकता है कि वर्तमानमें जैनगन्थके नाम से कहे जानेवाले कुछ शास्त्रोंमें कितनी ही परस्पर विरुद्ध ऐसीबेतुकी बातं है जिनसे कि दिगम्बर श्वेताम्बर सरीखा जटिल भेद खड़ा हो रहा है. परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अपनी बुद्धिरूप कसोटी-पर कसकर उसमें से भी खरे और खोटे की पहिचान सहज मे कर सकता है। अस्तु आगे निःकांक्षिताङ्गको बतलाते हैं

अपथ्यवद् दु:खविधेरपेतुं लग्नः सुखे चागदतां समेतुं
सांसारिकेरूगण इत्यमार्यः प्रवर्तने दौस्थ्य मियद्विचार्य ५५॥

अर्थात् कांक्षा के न होने का नाम निःकांक्षित अङ्ग है जिसका कि यहां पर वर्णन सुरू हो रहा है। भोग ही सुख देने वाले हैं ऐसा शोचकर उनके पीछे पड़े रहना सो कांक्षा कहलाती है। मिथ्या दृष्टि जीव मानता है कि इन भोगों में ही सुख है

अतः वह खाने, पीने, सोने वगेरह में ही जी ज्यान से जुटा रहता है पाप पाखण्ड करके भी उनकी पूर्ति करना चाहता है। जिससे कि अपथ्य सेवी रोगी की भांति सुखी न होकर उलटा दुःखी ही होता है। हां अगर सयाना रोगी होता है वह अपथ्य सेवन से दूर रह कर वर्तमान शान्ति के लिये बाहरी उपचार करता है जैसे कि कोई खुजली वाला आदमी नमक खटाई, मिरची, तेल, गुड़ वगेरह जैसी खूनखराबी वाली चीजो से दूर रहकर कपूर मिला नारियल का तेल मालिस करता है तो धीरे धीरे नीरोग भी बन जाता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव, चारित्रमोह की बाधा को न सहसकने के कारण उसके प्रतीकारस्वरूप समुचित भोग भी भोगता है परन्तु वह जानता है कि इन विषय भोगों में सुख नही, सुख तो मेरी आत्मा का गुण है जो कि मेरी दुर्वासना से दुःखरूपमे परिणत होता हुवा प्रतीत होरहा है अतः वह पापवृत्ति से दूर रहता है एवं धीरे धीरे नीराग होते हुये अन्तमें विषय भोगों से विरक्त होकर पूर्ण स्वस्थ होलेता है। अथवा यों कहो कि व्यर्थ की अभिलाषा करना आकांक्षा है जैसे रात्रि में आदमी को लिखा पढी का कार्य करना होता है तो दीपक जलाकर प्रकाश कर लेता है एवं अपना काम निकालता है जहां सबेराहुवा, सूर्यउगा, स्वतः प्रकाश होलिया तो दीपक को व्यर्थमान कर बुता देता है। फिर भी कोई भोला बालक अगर रोने लगे कि दीप को क्यों बुता दिया जलने देना था तो यह उसका रोना किस काम का है

केवल भूल भरा बालकपन है, बस ऐसे ही गृहस्थ अवस्था में तो समुचित कपड़े पहनना, धनार्जन करना इत्यादि बातों के सहारे से ही अपने उपयोग को निर्मल किया जाया करता है मगर त्याग वृत्ति पर आकर भी उन्हीं बातों की अभिलाषा को लिये रहना, निदान करना भूल है सो ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव कभी नही करता अतः निःकांक्षित होता है । अस्तु । अब नीचे निर्विचिकित्सांग का वर्णन करते हैं—

न धर्मिणो देहमिदं विकारि दृष्ट्वाभवेद्देषघृणाधिकारी
गुणानुरागाच्च करोतु वैय्या-वृत्त्यप्रणीतिं रुचयेऽस्तु वैया ५६

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि जीव अपने शरीर की विष्टा वगेरह को देख कर तो नही मगर दूसरों की विष्टा वगेरह को देखकर नाक सिकोड़ने लगता है, यह नही शोचता कि इसमे घृणा करने की कौनसी बात है जैसा शरीर इनका वैसा ही मेरा भी तो है । परन्तु अपनी तो विष्टा भी चन्दन और दूसरे का खकार भी विकार इस ऐसे विचार को लेकर वह अपने सिवाय औरों से मुह मोड़कर चलता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि शोचता है कि शरीर का तो परिणमन ही ऐसा है यह मल से ही तो उपजा है और निरन्तर मल को ही बहाता भी रहता है फिर इनका शरीर अगर मलीन है तो इसमें कौनसी नई बात है, इनकी आत्मा तो वही सम्यग्दर्शनादिरूपधर्मयुक्त है ऐसे विचार से वह धर्मात्मा जीवो की वैयावृत्य करने में

संलग्न होता है और धर्म के प्रति होनेवाली अपनी रुचि को पुष्ट बनाता है। आगे अमूढ दृष्टि अंग का वर्णन किया जा रहा है—

नमोहमायातिकुयुक्तिभिर्यः पृथग्जनानां मुपपत्तिवीर्यः
सर्वत्रदेवागमगुर्वभिज्ञःसदैव भूत्वा गुणतोनतिज्ञः। ५७॥

अर्थात्- जो देव यानी परमात्मा, आगम यानी निर्दोष शिक्षण और गुरुयानी साधु इन के स्वरूपको अच्छी तरह जानता है। सत्संग स्वानुभव और युक्तियों के द्वारा जिसका ज्ञान परिपक्व बन चुका है अतः जो सर्वसाधारण लोगों की बातों में या धूर्त लोगों की कुतर्कों मे फंसकर कभी भी उथल पुथल नहीं हो पाता है एवं उद्दण्ड तो नहीं मगर हरेक के आगे माथा लुढ़काने वाला भी नहीं होता किंतु जिसमें जैसा गुण देखता है उसका वैसा आदर अवश्य करता है सदा और सब जगह हंस की भांति विवेक से काम लेने वाला होता है वह अमूढ दृष्टि अंग का धारक कहा जाता है। अब यहां पर प्रसंग पाकर संक्षेप मे क्रमशः देव, शास्त्र और गुरु का स्वरूप बताया जाता है उसमें पहले देव का स्वरूप-

रागादिदोषानुच्छिद्य सर्वज्ञत्व मधिष्ठितः
विदेहभावनिर्देष्टा परमात्मा प्रसिद्ध्यति ॥ ॰ ॥

अर्थात्- जिस आत्मा ने अपने अन्दर अनादिकालसे निरन्तर रूप से उत्पन्न होते रहने वाले राग द्वेष मदमात्सर्यादि विकारी

भावों का मूलोच्छेद करके पूर्णतया प्रध्वंशात्मक अभाव करके सर्वज्ञ पन को पालिया हो एवं यह जीव सशरीर से निःशरीर किस प्रकार वन सकता है इस प्रकार के सवक को इन संसारी जीवों के सम्मुख उपस्थित करने वाला हो वह परमात्मा कहलाता है जिसको कि आदर्श मानकर हम अपना सुधार कर सकते हैं।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरुद्धवाक्
तत्वोपदेशकृत्सार्वशास्त्रं कापथघट्टनं ॥ २ ॥

अर्थात्-जो मूल में सर्वज्ञ का कहा हुवा हो, किसी भी चीज का परिणमन कभी भी जिसके कथन से वाहर नहीं जासकता हो, इसी लिये जिसमें प्रत्यक्ष से और अनुमान से भी कोई अडचन खड़ी नहीं की जा सकती हो, विकृतमार्ग का खण्डन करके जो वास्तविकता पर जोर देने वाला हो, अतः सबका भला करनेवाला हो वही आगम है।

नैराश्यमेव यस्याशाऽऽरम्भसङ्गविवर्जितः
साधुःस एव भूभागे ध्यानाध्ययनतत्परः ॥३॥

अर्थात्— निराशपना=आशा, तृष्णा से विलकुल रहित हो रहना ही जिसकी आशा यानी सफलता हो, जो किसी भी प्रकार के काम धन्धे से और धनादि से सर्वथा दूर रहने वाला हो, जो ध्यान और अध्ययन में यानी उपर्युक्त परमात्मा को याद करने में या पूर्वोक्त आगम के पढ़ने में ही निरन्तर लगा रहने वाला हो वही इस भूतल पर साधु कहलाने का अधिकारी

होता है। आगे उपगूहनांग—

अशक्तभावोत्थसधर्मिदोषराच्छादयन्नेष गुणैककोशः
अकण्टकं सत्पथमातनोतु'न कोऽपि कष्टानुभवं करोतु ५८

अर्थात्— प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो जैसा होता है वह दूसरों को भी वैसा ही समझता है जो चिलम पीने वाला है वह उस चिलम को झट दूसरे के सामने मे भी कर देता है कि लो पीवो, भलेही वह नही ही पीता हो। बस तो सम्यग्दृष्टि जीव खुद गुणवान होता है अतः औरों को भी गुणवान ही समझता है, उसका विचार उनके गुणों की ओर ही झुकता है। वह यह भी जानता है कि भूलजाना या फिसल पडना कोई बड़ी बात नही है, मैं भी तो भूला करता हूं। शरीरधारी होकर ऐसा तो कोई विरला ही हो सकता है जो कि भूलता ही न हो उसके तो आगे सबको शिर झुकाके चलना पड़ता है बाकी तो सभी भूल के भण्डार है। अतः जो कोई आदमी सत्पथ का श्रद्धालु तो हो किन्तु उसपर समुचितरूप से चलने में अशक्त हो, वे समझी और आलस्य के कारण ठीक न चल सकरहा हो इस लिये उसमें कोई प्रकार की कमी आगई हो तो उस कमी को लेकर उसकी अवज्ञा नहीं करने लगजाता बल्कि उसको न याद करते हुये उसके अन्दर होने वाले शेष गुणों को लेकर उसका आदर करता है। दूसरे भी कोई अगर उसकी निन्दा करने लगते हैं तो उन्हें भी समझाता है कि भाई

साहेब आप ऐसा क्यों कह रहे हो आपने उनमें ऐसी कौनसी बात पाई ताकि वे विचारे आदमी ही न समझे जावें। किसी को भी इस प्रकार बेकार कोशने से तो वह न भी है तो वैसा ही बन जाता है इत्यादि। इस, सम्यग्दृष्टि के इस वर्ताव से किसी को भी कोई कष्ट नही हो पाता और गलती खाने वाला आदमी भी धीरे धीरे अपनी गलती को ठीक करले सकता है एवं मार्ग सुचारु और निष्कण्टक बन जाता है। अतः इसका नाम उपगूहनांग है। अब आगे स्थितिकरण का वर्णन—

श्रद्धानतश्चाचरणाच्च्यवन्तः संस्थापिताः सन्तु पुनस्तदन्याः
अनेक विघ्न प्रकरेऽत्र येन सन्मानसोत्साहवशंगतेन ॥५६॥

अर्थात्— श्रेयांसि बहुविघ्नानि इस कहावत के अनुसार भली बातों में बाधायें तो अनेक आकर खड़ी होती हैं मगर साधक कोई विरला ही होता है ऐसी हालत में अगर कोई भोला आदमी सन्मार्ग पर लग कर भी उस पर से चिग रहा हो या उसे ठीक नही पकड़ पारहा हो, उसपर चलने मे असमर्थ हो रहा हो तो उसकी सहायता करना सम्यग्दृष्टि आदमी का काम हो जाता है। क्यों कि ऐसा करने से उसकी सन्मार्ग के प्रति रुचि प्रस्फुट होती है जिसका कि होना सम्यग्दृष्टि के लिये परमावश्यक है उसका जीवन है, अतः यह स्थितिकरण उसका अंग होजाता है। आगे वात्सल्य का वर्णन करते हैं—

धर्मस्य संग्राहक एष यस्माद् धर्मात्मनानाम्तु विनासतस्मात्
स्निह्यतवत्सं प्रतिधेनुतुल्यः सधर्मिणं वीच्यविवेकतुल्यः ६०

अर्थात्— वैसे तो सम्यग्दृष्टि जीव का प्राणी मात्रके प्रति प्रेमभाव होता है किन्तु किसी भी धर्मात्मा को वह देखपाता है तब तो बछड़े को देखकर गऊ की भांति उत्सुक ही हो लेता है। क्योंकि वह धर्म का ग्राहक होता है जो कि धर्मात्मावों के पास ही दीख पडता है धर्मात्मा को छोड़ कर धर्म अन्यत्र नही मिलता। यद्यपि प्रेम तो संसारी प्राणियों में भी होता है, पति पत्नी में, भाई बहन में, पिता पुत्र मे और अड़ोसी पड़ोसी में भी प्रेम हुवा करता है जो कि अपने अपने मतलब को लिये हुये होता है जहा मतलब सधा कि उसमें कमी आ जाती है या बदले में विरोध भी आ धमकता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि का धर्मात्मा के प्रति जो प्रेम होता है वह कुछ और ही प्रकार का होता है उसमें स्वार्थ का नाम भी न होकर वह केवलमात्र परमार्थ का पोषण करने वाला होता है उसका नाम वात्सल्य है। अब प्रभावनाङ्ग बतलाया जाता है—

प्रभावयेदेष सदा स्वधर्म माप्नोतु लोकोयत एवशर्म।
कदापि कुर्याद्घृणितं न कर्म प्रभिद्यते येनतुधर्ममर्म ६१

अर्थात्— उपर्युक्त चेष्टा के धारक सम्यग्दृष्टि जीव को चाहिये कि वह अपने धर्म को निरन्तर वृद्धिंगत करता रहे

अपने आत्म परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल से निर्मल बनते चले जावें ऐसी उपाय करे। ऐसा घृणित कर्म तो कभी स्वप्न मे भी न करे जिससे कि धर्म के ऊपर मर्म की चोट आपावे। भगवदुपासना, सद्गुरु सेवा आदि धर्म कार्यों में अग्रसर बना रहे ताकि और लोग भी उसे आदर्श मान कर उन कार्यों को तत्परता से करने लगें और अपना भला कर पावें इस प्रकार के अखण्डोत्साह का होना ही धर्म प्रभावना है।

शङ्का— भगवदुपासना सद्गुरु सेवादि में अग्रसर बनना तो शुभ राग रूप होने से पुण्यक्रिया है उसको धर्म कार्य मानना तो भूल है।

उत्तर— भैय्या देखो धर्म नाम सम्यक्त्व का ही तो है और वह जिसके हो वह सम्यक्त्ववान् धर्मात्मा होता है वह जब अर्हदुपासनारूप अपने परिणाम करता है तो वह उस धर्मात्मा का परिणाम धर्म कार्य नहीं तो और क्या है? उसमे धर्म नही होता इस का अर्थ तो यह हुवा कि वहां पर सम्यत्व नही रहता सो क्या अर्हदुपासना के समय सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है! नही, बल्कि आगम तो यह कहता है कि इतर गृहस्थोचित कार्य करते समय जो सम्यक्त्वी का समक्त्व है उसकी अपेक्षा अर्हदुपासना में विशदतर बनता है अतः वहां धर्म की प्रभावना हुवा करती है जैसा कि श्रीकुन्द कुन्दाचार्य ने अपने मूलाचार के पञ्चाचाराधिकार में लिखा है-

धम्म कहा कहरणेणयवाहिर जोगेहि चावि अणवज्जे ।
धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकम्पाए ॥ ८२ ॥

अर्थात्— तीर्थङ्कर चक्रवर्ती नारायणादि महा पुरुषों की कथा करने से, दान पूजादि कार्यों से, जीवों पर दया भाव करने से ऐसे २ और भी निर्दोष कार्यरूपमें अपने परिणामों के करने से धर्म प्रभावित होता है। हां यह बात दूसरी कि ऐसे कार्य में सम्यग्दृष्टि जीव के प्रशस्त पुण्य का भी आश्रव होता है सो अगर आश्रव होने मात्रसे धर्म न कहकर अधर्म कहा जावे तब तो आश्रव तो शुद्धोपयोग में भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये दोनों धर्मरूप ही होते हैं। अधर्म तो मिथ्यात्व का नाम है जो कि मिथ्यादृष्टि मे ही होता है अतः उसकी सभी क्रियायें अधर्म रूप ही होती है। खाना पीना वगैरह क्रियाये तो योग और उपयोग दोनों मे अशुभ रूप होने से घोर अधर्म, अर्थात्-पापरूप होती है मगर वह जो भगवदुपासनादि क्रियाये करता है तो वहां पर भी उसके उपयोग तो अशुभ ही होता है सिर्फ योग शुभ होने की वजह से अप्रशस्त पुण्यका आश्रव होता है अतः पुण्य क्रियायें कही जाती हैं।

शङ्का— वीतरागपन का नाम धर्म और सरागपन को अधर्म कहे तो क्या दोष है।

उत्तर— ऐसा मानने से फिर बाहरवें गुण स्थान से नीचे वाले लोग सभी अधर्मी ठहर जाते हैं परन्तु हमारे मान्य

जैन शासन में तो धर्म या मोक्षमार्ग, चतुर्थ गुणस्थान से सुरू हो जाता है जो कि सरागधर्म और वीतराग धर्म के नाम से दो भागों मे जरूर विभक्त किया हुवा है सो चतुर्थ गुण स्थान में सुरू होकर दशवे गुण स्थान के अन्त तक सरागधर्म होता है उससे ऊपर में वीतराग धर्म बन जाता है। अस्तु। प्रारम्भिक सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रशमादि भावों का धारक तथा निःशङ्कितादि अङ्गो का पालक होते हुये सदाचार का पक्षपाती होकर दुराचार का विरोधी हुवा करता है सो ही नीचे स्पष्ट करते हैं—

एवं सदाचार परोऽप्यपापी चारित्रमोहोदयतस्तथापि
महाव्रतेभ्योऽयमिहातिदूरः देश व्रतानिक्रमितुं न शरः ६२

अर्थात्— इस प्रकार ऊपर जिसका वर्णन किया जा चुका है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव पापों से यद्यपि दूर रहता है, सदाचार का पूरा हामी होता है फिर भी चरित्र मोह के तीव्रोदय के कारण महाव्रतों की तो कथा ही क्या किन्तु श्रावक के पालन करने योग्य बारह व्रतों को भी धारण करने के लिये समर्थ नही होता है। जैसे कि एक भले घरका नोजवान लड़का जिसकी कि अभी शादी नहीं हुई है वह यद्यपि स्त्रीप्रसङ्ग से दूर है फिर भी स्त्रीप्रसङ्ग का त्यागी नहीं है बस यही अवस्था इस अव्रत सम्यग्दृष्टि की होती है त्यागी या व्रती न होकर भी पापाचारी नहीं होता।

यदा द्वितीयाख्य कषाय हानिःसुश्रावकत्वं लभते तदानीं
न्यायोचिते भोगपदेऽपकर्षस्सन्तोष एवास्यवृथा न तर्षः ६३

अर्थात्— अब जब कि उपर्युक्त अभ्यास के बल पर अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ नामक दूसरी कषायों का भी क्षयोपशम होलेता है तो यथाविधि अणुव्रतों के पालन करने में तत्पर होकर स्पष्टरूप में श्रावक बनता है जिससे कि न्यायोचित विषयभोग भोगने में भी इस की वृत्ति अब सीमित होलेती है । जैसे मानलो कि अव्रत अवस्था में तो अपनी स्त्री से रात में या दिन में भी जब चाहे तब बतिया लिया करता था मगर अब दिन में कभी भी न याद करके रात्रि में ही उसके साथ प्यार करने का दृढ़ संकल्प अपने मनमें रखता है इस प्रकार पूर्वकाल की अपेक्षा से अब कुछ सन्तोष पर आजाता है । अपने किये हुये संकल्प से सिवाय की बात को तो कभी भी याद ही नही करता किन्तु अपने संकल्पोचित विषय में भी व्यर्थ की आशा, तृष्णा से बचने की चेष्टा रखता है । एवं इसका मन दृढतर बन जाता है ताकि—

स्त्रियं श्रितस्यापिततोऽल्प एवास्रपंचमस्येति वदन्ति देवाः
चतुर्थ भूमौ भजतो जिनश्च बन्धोयथास्यात्स्थिति भागमश्चः ६४

अर्थात्— जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि की अवस्था से

सम्यग्दृष्टिपन स्वीकार करने पर ज्ञानावर्णादि कर्मों का अल्प-स्थिति और अनुभाग लिये हुये बन्ध होने लगा था वैसे ही अव्रत अवस्था से इस देशव्रत समय मे और भी कम स्थिति अनुभागयुक्त होने लगता है । चतुर्थगुणस्थान में भगवद्भजन सरीखा पवित्र कार्य करते समय भी उन दुष्कर्मों का वैसा अल्पबन्ध नही होता था जैसा कि इस पञ्चमगुणस्थान मे आजाने पर स्त्रीसम्पर्क करने के काल में हुवा करता है। क्यों कि कर्मबन्धन का हिसाब बाह्य प्रवृत्ति पर निश्चित न रह कर मनुष्य के कषायांशोंपर अवलम्बित माना गया है। कषाय इस पञ्चमगुणस्थान की अपेक्षा चतुर्थगुणस्थान में हरहालत में अधिक ही होता है अतः बन्ध भी अधिक ही होता है इसी बात को उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है—

लक्षाधिपस्यास्त्ययुतं शतं वा तथा कषाय प्रचयावलम्बात्

तत्रानुयुक्तोऽधिक एव रागस्ततोऽमुतोऽस्त्यर्थमियात्स भागः ६५

अर्थात्—जैसे एक लखपति है और दूसरा हजारपति तो लखपति में हजारपतिपन की भी ताकत है और शतपतिपन की भी। हजारपति मे शतपतिपन को तो ताकत होती है मगर लखपतिपन की नही । वैसे ही मिथ्यादृष्टि अवस्था में तो अनन्तानुवन्धि कषाय होनेसे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण वगैरह सभी कषाये होती हैं अतः उसके वैसा ही घोर कर्मों का बन्ध भी हर समय होता रहता है। सम्यग्दृष्टि

होजाने पर अनन्तानुवन्धि कषाय का तो अभाव होजाता है अतः उससे होने वाला वन्ध तो नही किन्तु अप्रत्याख्यानावर कषाय होनेसे उससे होनेवाला और साथमें प्रत्याख्यानावरणादि से होनेवाला वन्ध भी होता रहता है। श्रावक होजाने पर जब कि अप्रत्याख्यानावरण का भी अभाव होलिया तो उसके सिर्फ प्रत्याख्यानावरणादि जन्य स्वल्पवन्ध होना ही बाकी रहता है वही होता रहता है । हां वह वात दूसरी कि प्रत्येक कषाय के भी असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं अतः उनमे आपस में हीनाधिकपना और तज्जन्य हीनाधिक वन्ध भी होता है परन्तु ऐसा कभी नही होसकता कि एकव्रती श्रावक के अव्रती सरीखी तीव्र कषाय वा वैसा तीव्रवन्ध होने लगे।

शङ्का— हम प्रत्यक्ष देखते हैं एक व्रती आदमी के कभी कभी साधारण गृहस्थ से भी अधिक क्रोधादि हो आते हैं।

उत्तर— ऐसा जो देखा जाता है वह तो लेश्याकृत विकार है। कषाय के उदय से होनेवाली मनवचन और काय की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है वह कृष्ण, नील, कापोत और पीत, पद्म, शुक्ल के भेद से छः प्रकार की होती है। इनमें से अव्रत अवस्था मे भी कृष्ण से लेकर शुक्ल तक और व्रतीपन मे भी पीतलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक यथासम्भव यथावसर वदलती रहती हैं। सो कभी किसी अव्रती के मन्दलेश्या और किसी व्रती के तीव्रलेश्या का होना बड़ी बात नही, फिर भी अगर वह सच्चा व्रती है तो गुस्से में आकर भी अव्रती का सा कार्य करने

लगता है क्या ? मानलो एक अम्बाके दो लड़के हैं, एक अव्रती और दूसरा व्रती दोनोंने विचार करके अम्बासे कहा कि मैय्या आज तो लड्डू खाने को तबियत चाहती है सो लड्डू बनाना मगर वह लड्डू बनाना भूलगई उसने भात बनालिये, भोजन के समय कहा कि आवो बेटो भात तैयार होगये खालो,इस पर अव्रती ने तो शोचा कि चलो कोई बात नहीं भात बनाये हैं तो भात ही सही। उधर व्रती कहता है कि आज कई दिन से तो मोदक बनाने को कहा था सो क्यों नही बनाये मै तो नही खाता, यों रोष में भर आता है, इतना तो हो सकता है किन्तु इस रोष ही रोष में बाजार से हलवाई के यहां से लड्डू लाकर खालेवे ऐसा कभी नही होसकता । जैसे कि अव्रती के मनमें आजावे तो खरीदकर झट खाने लगजाता है, बस यही इन दोनों के अन्दर अन्तर होता है जो कि उसकी कषाय का अन्तर है और अन्तरंग में सदा बना रहता है इस कषाय विशेष से ही व्रती की अपेक्षा अव्रती के अधिक बन्ध माना गया है सो ठीक ही है। घास खानेवाला हिरण दूब चरते समय भी अपनी भद्रता के कारण उतना पाप नही करता है जितना कि नीन्द में सोरहा हुवा चूहों का खानेवाला बिलाव,ऐसा माननाही होगा।

एवं तृतीयाख्य कषायहानेर्भोगापयोगायमनोऽनुजाने
तथापि सत्कर्मणि संप्रवृत्तिर्नकिन्त्वमुष्यात्मसुखाभिवृत्तिः ६६

अर्थात्— श्रावक अवस्था में यद्यपि त्याग की तरफ

झुकाव हुवा करता है फिर भी आंशिक भोगोपभोगों का भी उपयोग होता रहता है, मगर जहां प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम हुवा कि भोगसामग्री से कुछ भी प्रयोजन नही रहता। स्त्री, पुत्र, धन, मकान वगैरह सभी तरह की बाह्य ऐश आराम की चीजों से अपने उपयोग को हटा कर आदमी मुनि बन जाया करता है।

शंका—बाह्य वस्तुवों का त्याग तो द्रव्यलिंगी मुनि के भी होता है सो क्या उनके भी प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम होता है ?

उत्तर— द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि के किसी भी कषाय का क्षयोपशम नही हुवा करता मगर अनात्मभावरूप मिथ्यात्व के होने से उसके और सभी चारित्रमोहनीय कषाये एक अनन्तानुबन्धि के रूपमे उदयमे आती रहती हैं, वह भव्यसेन मुनि की भांति अपने आपको बड़ाभारी तपस्वी मानाकरता है। औरों के प्रति तुच्छता का भाव उसके अन्तरंगमें घर कियेहुये रहता है। वह मानता है कि मैं जो यह तपस्या कररहा हूं सो किसी से भी न होनेवाला बहुत ही बड़ा काम कर रहा हूँ। इस प्रकार का मिथ्याभिमान और धर्मात्मावो के प्रति घृणाभाव उसके सदा बना रहता है।

शंका—ऐसी हालत मे उन्हें जो अन्तिम ग्रैवेयक तक की प्राप्ति हो जाती है सो कैसे होजाती है ?

उत्तर— उनके मन, वचन और काय नामक योगो की प्रवृत्ति

महाव्रतादि मय शुभ रूप होती है जिससे उच्चगोत्रादि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होकर उन्हे अहमिन्द्रपद की प्राप्ति होजाती है फिर भी उनका उपयोग मलिन ही बना रहता है अतः संसार का अभाव कभी नही हो पाता।

शङ्का— इसी लिये तो हम कहते हैं कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधन नही है यानी शुभ क्रिया करते करते यह जीव अन्तमें नियम से शुद्धता को प्राप्त कर जाता है ऐसा मानना गलत है।

उत्तर— उपर सिर्फ शुभयोग के बावत की बात कही गई है जो कि द्रव्यलिङ्गी के होता है। उसको किसी भी जैनाचार्य ने किसी भी जगह शुद्धोपयोग का साधन कभी भी नही बतलाया है अतः उसे ही शुद्धोपयोग का साधन मानने वाला अवश्य भूल खाता है, परन्तु शुभोपयोग की चरमावस्था शुद्धोपयोग का कारण जरूर है जैसा कि आचार्यों ने बतलाया है। तुम जो शुभोपयोग को शुभ योग मे घसीट रहे हो सो ठीक नही है। शुभ योग भिन्न चीज है और शुभोपयोग भिन्न। योग तो आत्मा की मन, बचन, काय के निमित्त से होनेवाली सकम्पता का नाम है और उपयोग नाम चैतन्य परिणाम का। वे दोनों ही अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से तीन तीन तरह के होते हैं। हिंसा करना, झूठबोलना, डाह रखना इत्यादि रूप चेष्टा का नाम अशुभ योग है जो कि पापबन्ध का कारण होता है। जीवोंकी रक्षा करना, सत्य बोलना, जिनस्मरण करना

इत्यादि रूपचेष्टा को शुभयोग कहते हैं जिससे कि पुण्य का बन्ध होता है। निरीहता से कायादि की चेष्टा का नाम शुद्ध-योग है जिससे कि किसी भी तरहका बन्ध न होकर इर्यापथिक आस्रवमात्र होता है।

शरीर और आत्मा को एक मानते हुये इन्द्रियाधीनवृत्ति का नाम अशुभोपयोग है जो कि अनन्त संसार का कारण है। शरीर से आत्मा को भिन्न, नित्य ज्ञानस्वरूप मानते हुये एवं वीतरागता की तरफ झुकते हुये सद्विचार का नाम शुभोपयोग है जो कि परीतसंसारपन का साधन है। वीतराग भाव का नाम शुद्धोपयोग है जो संसाराभावका साक्षात् कारण है। इनमें से अभव्य जीव के और मिथ्यादृष्टिभव्य जीव के भी उपयोग तो अशुभ ही होता है किन्तु योग शुभ एवं अशुभ पलटते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि के अशुभोपयोग का अभाव होकर शुभोपयोग फिर शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है। यानी सम्यग्दृष्टि जीव के योग तो अशुभ, शुभ और शुद्ध ऐसे तीनों ही प्रकार का यथा सम्भव होता है, क्यों कि एक सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय युद्ध में प्रवृत होरहा होता है तो वहां उसके उपयोग तो शुभ किन्तु योग अशुभ हुवाकरता है, वही जब भगवत्पूजनादि कार्यों में प्रवृत्त होता है तो उपयोग और योग दोनों शुभ होते हैं और वीतरागदशा में उसके वे दोनों शुद्ध होजाते है।

शङ्का — योग और उपयोग भिन्न भिन्न प्रकार के नहीं होसकते (देखो कानजी की रामजी माणेकचन्द दोषी कृत तत्वार्थ

सूत्र की छटी अध्याय के सूत्र तीसरे की टीका) क्यों कि जैसे जीव के विचार होंगे वैसी ही उसकी चेष्टा भी होगी। उत्तर–देखो भैयाजी मानलोकि कोई एकआदमी अपनेसे अधिक शक्तिशाली अपने शत्रु को परास्त करना चाहता है जिसके लिये नवरात्रानुष्ठान करना प्रारम्भ करता है। जिसमें मन से तो अपने इष्ट भगवान् का स्मरण करता है, बचन से भगवन्नामोच्चारण और शरीर से भगवत्पूजन में संलग्न हो रहता है तो वहां पर उसके योगचेष्टा तो शुभ है किन्तु विचार जो है वह शत्रुदमनरूप खुदगर्जमय होने से अशुभरूप है।

शङ्का— विचार मनके द्वारा होता है और योगोमें भी मन-योग प्रधान है फिर दोनों भिन्न २ कैसे सो अभीतक हमारी समझ में नही आया।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है विचार और मनोयोग ये दोनों होते हैं मन के द्वारा किन्तु विचार आत्मा के ज्ञान गुण का परिणाम है और योग आत्माके प्रदेशवत्त्वगुण का (कम्पनरूप) परिणाम। फिर इन दोनों के भिन्न २ होने मे बाधा क्या है ? कुछ नही। सो द्रव्यालिङ्गी मुनि का वाह्य वस्तुवो का त्याग योगमात्र से होता है उपयोग से नहीं, परन्तु जो सच्चा त्यागी होता है वह तो वाह्यवस्तुवों को व्यर्थमान कर सहज ही उनसे विमुख हो रहता है। जैसे कि खाते खाते किसी का मन भर गया तो फिर वह खाने के तरफ की अपनी भावना ही छोड़ देता है।

हां इस प्रकार का त्याग करके मुनि होजाने पर भी इस की वृत्ति एकान्त आत्माभिमुखी नहीं होजाती, परन्तु वीतराग सर्वज्ञ भगवान का ध्यान करना, वीतरागपन का निर्देश करने वाले उपदेशों को याद करना, सद्‌गुरुवों की वैय्यावृत्य करना वीतरागियों के पास रहने को ही चाहना इत्यादि सत्कार्यों के करने में संलग्न बनता है यानी इन बातों के द्वारा ही तो अपने आत्म स्वरूप का महत्व अपने हृदय में उतारता है जैसा कि श्री अरहन्तभगवान् वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं और जैसा अरहन्त का स्वरूप है वैसा ही मेरी आत्मा का भी स्वरूप है, परन्तु सीधा आमस्वरूप पर अभी नहीं जमने पाता। क्योंकि

यतोऽन्तरासंज्वलर्ताहरागः दन्दह्यतेऽनेनकिलात्मबागः।
नायातुमर्हत्यत एव भेद–विज्ञान पुष्पंसुमनः स्थलेऽदः ६७

अर्थात् – अब भी इसके आत्मरूप बाग की जमीन में संज्वलन नाम का कषाय या रागभाव अपना असर किये हुये रहता है ताकि बिलकुल परालम्बन से रहित अपने शुद्धात्मस्वरूप पर आकर जमजानेरूप भेदविज्ञान जिसको कि शुक्लध्यान भी कहते हैं वह इसके मनमें नहीं स्फुरित हो पाता जो कि भेदविज्ञान आत्मीक सफलता के लिये पुष्प का कार्य करता है।

भेद विज्ञान का खुलासा—

भेद विज्ञान में भेद और विज्ञान ये दो शब्द हैं जिनमे

परस्पर समास होकर भेदविज्ञान एक शब्द बन गया हुवा है। सो भेदस्यविज्ञानं ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास किया जाय तब तो "एकक्षेत्रावगाह होकर भी शरीर और आत्मामें जो परस्पर भेद है उसका ज्ञान यानी देह और जीव में परस्पर एक बन्धानरूप संयोग सम्बन्ध है फिर भी ये दोनों एक ही नही होगये हैं अपितु अपने अपने लक्षण को लिये हुये भिन्न भिन्न हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक पुद्गलपरमाणुवों के पिण्डस्वरूप तो यह शरीर है किन्तु उसके साथ साथ उसमें चेतनत्व को लिये हुये स्फुटरूप से भिन्न प्रतिभापित होने वाला आत्म तत्व है" इस प्रकार जानना तथा मानना यह मतलब हुवा सो यह भेदविज्ञान तो चतुर्थगुणस्थान में होलेता है। किन्तु जबकि भेदेनभेदाद्वा यद्विज्ञानं तद्भेदविज्ञानं ऐसा समासलिया जावे तो फिर कर्मों को दूर हटा कर यानी राग द्वेषादिभाव कर्मोंका नाश करडालनेपर जो ज्ञान यानी शुद्धात्मा का अनुभव हो उसका नाम भेदविज्ञान सो यह पृथक्त्ववितर्क-बीचार नामक शुक्लध्यान का नाम बन जाता है जो कि यहां इष्ट है और जिसके कि, सोलहों आना सम्पन्न हो लेने पर उसके उत्तर क्षण में एकत्व को प्राप्त होते हुये यह आत्मा अपने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म को भी मिटाकर परमात्मा बनजाता है और जिसके न प्राप्त होने पर या प्राप्त होकर भी वापिस छूटजाने पर यह आत्मा कर्मों से बन्धा का बन्धा ही रहजाता है जैसा कि अमृतचन्द्र स्वामी कह गये है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा येकिलकेचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा येकिलकेचन ॥

अब वह भेदविज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है सो बताते हैं—

प्रस्तूयते सातिशयारव्यखाद श्चेदंकुरायात्मविदोऽप्रमादः ।
मृदन्तरा बीजवदीप्यतेऽदः पुनः किलास्यप्रसदात्मवेदः ६८

अर्थात् मुनिपने में भी मुख्यतया इस जीव के दो प्रकार के भाव होते हैं एक प्रमत्त भाव दूसरा अप्रमत्त भाव। परावलम्बन रूप भाव का नाम प्रमत्त भाव है और परावलम्बन से निवृत्त होने रूप भाव का नाम अप्रमत्त भाव जैसे कि मुनि होते समय में-अब मुझे इन कपड़ों से क्या प्रयोजन है, कुछ नहीं ऐसा सोच कर उन्हें अपने शरीर पर से उतारने लगना दूर करना सो अप्रमत्त भाव एवं पीछी और कमण्डलु को संयम तथा शौच का साधन मान कर ग्रहण करना इत्यादि रूपभाव सो प्रमत्त भाव होता है। अथवा शिर के केशों को नोंच कर फैंकते रहना सो अप्रमत्त भाव और ॐ नमः सिद्धेभ्य इत्यादि रूप सिद्ध भक्ति करने लगना सो प्रमत्त भाव होता है। सामयिक करते समयमें शरीर से भी निर्ममत्व होकर कायोत्सर्ग करने का नाम अप्रमत्त भाव है किन्तु स्तवनादि में प्रवृत्त होने का नाम प्रमत्त भाव है इसी प्रकार से और भी समझ लेना चाहिये। सो यह प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त भाव मुनि के होते ही रहते हैं जिनको प्रमत्तविरत और स्वस्थाना

प्रमत्त भाव क्रम से कहते है परन्तु इन दोनों तरह के भावों से दूर होकर रहने वाला बिलकुल हेयोपादेय पन से रहित परमोदासीन भाव एक और भी हो सकता है जिस को शुद्ध भाव भी कहते हैं जैसा कि श्री समयसार जी में कहा है—

ण विहोदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगोदुजो भावो।
एवं भणन्ति शुद्धं णावो जो सो उसो चेव ॥ ६ ॥

उस शुद्ध आत्म भाव का नाम ही भेदविज्ञान है इसी को स्वरूपाचरण भी कहते हैं जिसको कि प्राप्त करने के लिये उससे पहले सातिशयाप्रमत्त भाव की आवश्यकता होती है जो कि सातिशयाप्रमत्त भाव उस शुद्ध भाव की प्राप्ति के लिये, खेती के लिये खाद और पानी का सा कार्य करता है जिसमें और सब कल्पनाओंको दूर करके आत्मस्वरूप को उपादेय रूप से स्वीकार किया जाया करता है मतलब यह कि इस के अनुभव में इस समय आत्मा शुद्धरूप में न आकर उपादेयरूप रागांशयुक्त आता है जैसे कि शुरू २ में बीज मिट्टी के भीतर ही भीतर मिट्टीको साथमें लिये हुये अस्पष्टरूपमें फूट पाता है यानी इस के अनुभव में शुद्धात्मा=निकल परमात्मा श्री सिद्ध परमेष्ठीतो-ध्येय और आप उनका ध्यान करने वाला होता है सिर्फ इतना सा भेदभाव रहजाता है। इसी को रूपातीत धर्मध्यान कहते हैं जो कि प्रशस्त संहननयुक्त मुनि की दशा में ही हुवा करता है क्यों कि इसके लिये सुदृढ़ रूपमें मन, वचन, कायकी निश्चलता की जरूरत होती है। अस्तु। यह रूपातीत धर्मध्यान ही अपने

उत्तरकालमें उस आत्मा के उपादेयतारूप रागांशको भी क्रमशः लुप्त करके शुक्लध्यान के रूप मे परिणत होता है। उस रागांश को लुप्त करने की क्रमिक पद्धति का नाम ही श्रेणी है सो ही नीचे के वृत्त में बताते हैं—

उदीयमानस्य चिदंशकस्य रागादिदानींच्यवतः समस्य
यन्त्रेण तैलस्य खलादिवेतः श्रेणौ समष्टि प्रतिभातिचेतः ६६

अर्थात्— याद रहे कि श्रेणि-समारोहण के लिये या शुक्लध्यान प्राप्त करने के लिये सहायतारूप से अङ्गपूर्वादिरूप विशिष्ट श्रुतज्ञान की भी आवश्यकता होती है जो कि उस आत्मा मे या तो पहले से ही प्रस्फुट होरहा होता है और नहीं तो फिर रूपातीतध्यान के समय प्रस्फुट कर लिया जाता है तब फिर आगे बढ़ाजाता है। सो उस श्रेणि मे प्रविष्ट हुवा आत्मा अपने रागांश को दबाते या नष्ट करते हुये वहा पर प्रस्फुट होनेवाले शुद्धचेतनांश का अनुभव करता है जैसे कि कोलू मे तिल पिल करके खल में से पृथक् होता हुवा तैल दीख पड़ता है एवं रीत्या यह आत्मा विशद से विशदतर होता चला जाता है इसी का दूसरा उदाहरण—

पटः अशुद्धयग्निवफेनिलेनाऽधुनानुभूयेतमवन्निरेनाः।
किन्तूपयोगोनहि शुद्ध एव ग्राहेति सम्यग्जिनराजदेवः ७०

अर्थात्— जिस प्रकार एक मैले कपड़े को साबुन और पानी से जब धोया जाता है तो वह धीरे धीरे साफ होता हुवा

प्रतीत होता है वैसे ही श्रेणि स्थित आत्मा भी अपने आप में होने वाले रागांश को अल्प से अल्पतर करते हुये विशुद्ध बनता चला जाता है एवं इसका उपयोग श्रेणि के अन्त में जाकर पूर्ण शुद्ध बन पाता है ऐसा श्री जिनभगवान का कहना है। तो फिर श्रेणि मध्यवर्ति अष्टमादि गुण स्थानों मे जो शुद्धोपयोग कहा गया है सो क्या गलत बात है ? इसका जवाब नीचे दिया जा रहा है—

रागित्व मुज्जित्य तदुत्तरत्र शुद्धत्व माप्नोति किलैवमत्र।
शुद्धोपयोगे गणनाष्टमादि-सूक्ष्मस्थलान्तं विभुनान्यगादि ७१

अर्थात्–श्री सर्वज्ञदेव ने बतलाया है कि अष्टमगुणस्थानसे लेकर दशम सूक्ष्म सम्पराय-गुणस्थान तक के जीव अपने रूपमें तो राग युक्त होते है अतः शुद्धोपयोगी नही कहे जासकते मगर अपने उत्तर काल मे नियम से राग का त्याग करके शुद्धत्व को स्वीकार करने वाले होते हैं इस लिये उनके शुद्धोपयोग कहा जावे तो ठीक ही है राजा होनहार राजाके लड़केको भी तो राजा कहा जाता है मतलब कि भावनिक्षेपापेक्षयातो श्रेणिस्थ जीव शुद्धोपयोगी नही, विशुद्धोपयोगी होते हैं किन्तु द्रव्यनिक्षेप से उन्हें शुद्धोपयोग वाला माना गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है। कि चतुर्थादिगुण स्थान वाले भी आगे चल कर तो शुद्धोपयोगी बनेगे फिर उन्हे शुद्धोपयोगी क्यों नहीं कहा गया इसका उत्तर निम्न छन्द मे दिया जा रहा है—

तूर्यादि भूभावपि नेदृगिष्टिर्यतस्ततश्चादिपदेऽपिविष्टिः।
दृङ्मोहनाशेऽपि चरित्र मोह—सम्विप्लवः स्यादिति सज्जनोहः ७२

अर्थात्— अव्रत सम्यग्दृष्ट्यादि गुण स्थान वर्ती जीव अगर ऊपर की तरफ जावे तब तो क्रमसे आगे बढ कर शुद्धोपयोग (वीतरागता) को प्राप्त कर सकता है किन्तु नीचे की तरफ लुढक कर वापिस मिथ्यादृष्टि भी तो बन सकता है सीधा ऊपर को ही जावे यह उसके लिये कोई नियम नहीं है। जिसका दर्शन मोह बिलकुल नष्ट होगया ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी चतुर्थ गुण स्थान से नीचे की ओर तो नही जाता फिर भी पांचवं छटे सातवें गुण स्थानों में यहां से वहां अनेक बार परिवर्तन तो करता ही है। हां जिसने सातिशयाप्रमत्त अवस्थाको प्राप्त कर लिया वह अवश्य अष्टमादि गुणस्थानों में होकर वीतराग पनको प्राप्त करता ही है फिर भले ही वह औपशमिकभावात्मक हो तो अन्तर्मुहूर्त के बाद वीतरागपन से सरागपन मे आ जाता है परन्तु वीतरागपन को पाये बिना नही रह सकता इस लिये अष्टमादि गुण स्थानों को शुद्धोपयोग में सम्मिलित किया गया है, चतुर्थादिगुणस्थानों को नहीं ऐसा समझना चाहिये।

किञ्चचतुर्थादि गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्ध्यादि कषायों का अभाव होकर भी अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय हो रहता है मगर अष्टमादि गुणस्थान तो अवशिष्ट रही संज्वलन कषाय

का अभाव करने रूप ही होते है जैसे कि नारियल के उपर का सुरू का वक्कल हटादिया जाय तो उसपर जटालता स्पष्ट हो आती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुवंधि कषाय निकलजाने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय स्फुट हो रहती है। फिर नारियल पर की जटावों को दूर किया जाने पर जैसे उसके उपर की टोकसी दिख पड़ती है वैसे ही अप्रत्याख्यानावरण का भी अभाव होने पर श्रावक के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय प्रगट होता है। उसका भी अभाव करदेने पर सकलसंयमी के संज्वलन कषाय का उदय रहता है जैसे कि टोकसीको भी तोड़कर नारियलका गोला निकालाजाता है मगर उसपर भी लालछिलका उसका और लगाहुवाबाकी रहजाता है। उसको भी दूर हटाने से गोले की स्वच्छता प्रगट होती है अतः अब उसे दूर करने के लिये पहले तो उसे चाकू वगैरह के द्वारा गोदते हैं फिर उसे छीलते हैं सो छीलने में भी कहीं छिलके का अंश रहजाता है या गन्दा हाथ लग जाता है इसलिये उसे दुबारा खुरचना पड़ता है, बस यही हाल आठवें नोवें और दशवें गुणस्थान में क्रमसे आत्मा का होता है। सकल संयमावस्था में और सब कषायोंका उदय दूर होकर जो संज्वलन कषाय शेष रह जाती है उसे भी मिटाने का आत्म प्रयत्न होता है अतः वहां वस्तुतः मिश्रोपयोग हुवा करता है।

नोटः— याद रहे कि नारियल के साथ टोकसी वगैरह सिर्फ उसके उपर होती हैं वैसे ही आत्मा में कषायें नहीं

होतीं, किन्तु आत्माके उपयोगमे कषायें अंश अंशमें होती हैं।

शङ्का—वर्तमान के कुछ लोगों का कहना है कि चतुर्थगुणस्थान से ही शुद्धोपयोग शुरू होजाता है क्यों कि वहां दर्शनमोह का अभाव हो लेता है। अतः उतने अंश मे वहां शुद्धता मानने में क्या हानि है ?

उत्तर— दिगम्बर जैनाचार्यों ने तो इस प्रकार कीन्हीं ने भी कहा नहीं है। हमारे सर्वमान्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ही अपने प्रवचनसार मे लिखा है कि जिस साधु ने अपना तत्वार्थविषयक श्रद्धान बिलकुल ठीक कर रक्खा हो, जो संयम और तपका धारक हो एवं बिलकुल राग, द्वेष से रहित होलिया है। अतः सुख और दुःख मे एकसा विचार रखता हो वही शुद्धोपयोग वाला होता है देखो—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजम तव संजुदोविगतरागो
समणो समसुहदुक्खो भणिदो शुद्धोपयोगोत्ति ॥१४॥

इस गाथा में आयेहुये विदितपदार्थसूत्रः, संयमतपसंयुतः विगतरागः और समसुखदुःख ये चारों श्रमण के विशेषण हैं और श्रमण उनका विशेष्य, जैसा कि प्रवचनसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य और श्री जयसेनाचार्य भी बतला गये हैं सो ऐसी अवस्था मुख्य रूप में तो दशवें गुणस्थान के ऊपर में ही होती है परन्तु अप्रमत्त गुणस्थान से नीचे तो किसी भी तरह नहीं मानी जा सकती है। हां उनको विशेषण विशेष्य न मान कर सब को भिन्न भिन्न स्वतन्त्र ग्रहण किया जावे और

इस तरह से सुविदितपयत्थसुत्तोशुद्धोपयोग अर्थात् सिर्फ तत्वार्थ श्रद्धानवाला जीव भी शुद्धोपयोगी होता है ऐसा मतलब निकाला जावे तो फिर संयमतपःसंयुतोऽपिशुद्धोपयोगः यानी तत्वार्थ–श्रद्धानशून्य, सिर्फ तपः संयम का धारक द्रव्यलिंगी मुनि भी शुद्धोपयोगी ठहरेगा इस लिये उपर्युक्त आचार्य कृत अर्थ ही सुसंगत है।

तथा च शुद्धोपयोग में शुक्ल का पर्यायवाची शुद्ध शब्द है और उपयोग शब्द विचार का–ध्यान का पर्यायवाची यानी शुद्धोपयोग कहो या शुक्लध्यान कहो एक बात है जो कि शुक्लध्यान सातवें गुणस्थान के बाद में सुरु होता है, चोथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक तो धर्मध्यान ही होता है ऐसा तत्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका वगेरह में लिखा हुवा है। जो कि धर्मध्यान शुभोपयोग रूप होता है। अगर धर्म ध्यान को भी शुद्धोपयोग (वीतरागता) रूप ही माना जावे तो फिर शुक्लध्यान और धर्म ध्यान में अन्तर ही क्या रह जाता है। धर्म शब्द का अर्थ भी जो लोग सिर्फ सहज पारिणामिक भाव लेते हैं वे भूल खाते हैं। धर्म शब्द का सीधा अर्थ परिणमन है जो कि परिणमन, आत्माका दो प्रकारका होता है। एक तो सहज परनिरपेक्ष दूसरा नैमित्तिक (परसापेक्ष) सो सहजपरिणमन तो वीतरागता रूप होता है। उस वीतरागतारूप परिणमनके साथ एकाग्रताकिये हुये उपयोग कानाम ही शुक्ल (सद्रूप) ध्यान है जिसे शुद्धोपयोग

कहा जाता है। नैमित्तिक (मोहनीयकर्मोदय के निमित्तसे हुवा) परिणमन रागादिमय होने से अशुद्ध होता है वह दो प्रकार का होता है एक तो वह कि राग को अपना स्वरूप ही समझे हुये रहना, वीतरागता की तरफ लक्ष्य ही नही होना सो ऐसा उपयोग तो बहिरात्म मिथ्यादृष्टि जीव का होता है जिसको अशुभोपयोग कहते है इसी का नाम अनात्मभाव रूप होने से अधर्म है। परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर फिर—मैं नित्य ज्ञानस्वरूप हूं, देह मे रह कर भी देह से भिन्न हूं, शरीरादि के साथ ममत्व को लेकर रागादिमान् हो रहा हूं अगर उस ममत्व को मिटादूं तो वीतराग और सर्वज्ञ हो सकता हूं इत्यादिरूप से अपने श्रद्धान में वीतरागताको स्वीकार कियेहुयें उदारतारूप सद्विचार का नाम ही शुभोपयोग है जो कि अव्रत सम्यग्दृष्टि की दशा में प्रशस्त, देशविरत के प्रशस्ततर और सकलविरत के प्रशस्ततम होता है। आत्मत्व को स्वीकार किये हुये होनेके कारण वह धर्म कहा जाकर उसके साथ एकाग्रतारूप चित्त परिणति का होना ही धर्मध्यान है जो कि तरतमरूप में चोथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान के अन्त तक होता है। उससे ऊपर अपूर्वकरणादिगुणस्थानों में वही शुक्ल (शुद्धोपयोग) ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि श्री आदिपुराण जी में कहा है देखो—

प्रबुद्धधीरध:श्रेण्या धर्मध्यानस्य सुश्रुत:
सएवं लक्षणोध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलां

क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्टं (शुक्लं नाम) ध्यानमृच्छति ॥

शङ्का— यह तो ठीक है शुक्लध्यान तो सप्तमगुणस्थान से ऊपर मे ही होता है, मगर शुद्धोपयोग तो आत्मीक शुद्धताका नाम है सो चतुर्थगुणस्थान में जब दर्शनमोह नष्ट होचुका तो उतने रूपमें वहां शुद्धोपयोग भी होलिया ऐसा हमलोग तो समझते है !

उत्तर—, उपयोग नाम अभिप्राय का है वह तीन तरह का होता है अशुभ, शुभ और शुद्ध । उसमें अशुभोपयोग दुरभिप्राय का नाम है जो कि मोह यानी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धि-रूप कषाय की वजहसे वस्तुतत्वके बारेमें भुलावेके रूपमें होता है । जिससे कि यह जीव घोर दुर्ध्यान को करने वाला होता है और सत्यार्थश्रद्धानरूप सदभिप्राय का नाम शुभोपयोग है, जिसका धारक जीव शुभलेश्या को अपना कर जब वस्तुतत्व के विचार में एकाग्रता से लगा रहता है उस समय उसके प्रशस्त (धर्म) ध्यान होता है । और वही जब अपने रागादि विकारभावों को सर्वथा नष्ट करके निश्चलरूपसे अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव करने में निमग्न होलेता है उस समय उसके शुद्धोपयोग होता है ऐसा श्री ज्ञानार्णव जी में लिखा है देखो—

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥२६॥
पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्
चिन्तनाद्वस्तुतत्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥२८॥

होतीं, किन्तु आत्माके उपयोगमें कपाये अंश अंशमे होती हैं।

शङ्का—वर्तमान के कुछ लोगों का कहना है कि चतुर्थगुणस्थान से ही शुद्धोपयोग शुरू होजाता है क्यों कि वहां दर्शन-मोह का अभाव हो लेता है। अतः उतने अंश मे वहां शुद्धता मानने में क्या हानि है ?.

उत्तर— दिगम्बर जैनाचार्यो ने तो इस प्रकार कीन्हीं ने भी कहा नहीं है। हमारे सर्वमान्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ही अपने प्रवचनसार में लिखा है कि जिस साधु ने अपना तत्वार्थविपयक श्रद्धान विलकुल ठीक कर रक्खा हो, जो संयम और तपका धारक हो एवं बिलकुल राग, द्वेप से रहित होलिया हो अतः सुख और दुःख मे एकसा विचार रखता हो वही शुद्धोपयोग वाला होता है देखो—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजम तव संजुदो विगतरागो
समणो समसुहदुक्खो भणिदो शुद्धोपयोगोत्ति ॥२६॥

इस गाथा मे आयेहुये विदितपयत्थसुत्तः, संयमतपसंयुतः विगतरागः और समसुखदुःख ये चारों श्रमण के विशेषण हैं और श्रमण उनका विशेष्य, जैसा कि प्रवचनसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य और श्री जयसेनाचार्य भी बतला गये है सो ऐसी अवस्था मुख्यरूप में तो दशवें गुणस्थान के ऊपर में ही होती है परन्तु अप्रमत्त गुणस्थान से नीचे तो किसी भी तरह नही मानी जा सकती है। हां उनको विशेषण विशेष्य न मान कर सब को भिन्न भिन्न स्वतन्त्र ग्रहण किया जावे और

इस तरह से सुविदितपयत्थसुत्तोशुद्धोपयोग अर्थात् सिर्फ तत्वार्थ श्रद्धानवाला जीव भी शुद्धोपयोगी होता है ऐसा मतलब निकाला जावे तो फिर संयमतप:संयुतोऽपिशुद्धोपयोग: यानी तत्वार्थ-श्रद्धानशून्य सिर्फ तप: संयम का धारक द्रव्यलिंगी मुनि भी शुद्धोपयोगी ठहरेगा इस लिये उपर्युक्त आचार्य कृत अर्थ ही सुसंगत है।

तथा च 'शुद्धोपयोग में शुक्ल का पर्यायवाची शुद्ध शब्द है और उपयोग शब्द विचार का-ध्यान का पर्यायवाची यानी शुद्धोपयोग कहो या शुक्लध्यान कहो एक बात है जो कि शुक्लध्यान सातवे गुणस्थान के बाद में सुरू होता है, चोथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक तो धर्मध्यान ही होता है ऐसा तत्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका वगेरह में लिखा हुवा है। जो कि धर्मध्यान शुभोपयोग रूप होता है। अगर धर्म ध्यान को भी शुद्धोपयोग (वीतरागता) रूप ही माना जावे तो फिर शुक्लध्यान और धर्म ध्यान में अन्तर ही क्या रह जाता है। धर्म शब्द का अर्थ भी जो लोग सिर्फ सहज पारिणामिक भाव लेते हैं वे भूल खाते है। धर्म शब्द का सीधा अर्थ परिणमन है जो कि परिणमन, आत्माका दो प्रकारका होता है। एक तो सहज परनिरपेक्ष दूसरा नैमित्तिक (परसापेक्ष) सो सहजपरिणमन तो वीतरागता रूप होता है। उस वीतरागतारूप परिणमनके साथ एकाग्रतालिये हुये उपयोग कानाम ही शुक्ल (सद्धर्म) ध्यान है जिसे शुद्धोपयोग

कहा जाता है। नैमित्तिक (मोहनीयकर्मोदय के निमित्तसे हुवा) परिणमन रागादिमय होने से अशुद्ध होता है वह दो प्रकार का होता है एक तो वह कि राग को अपना स्वरूप ही समझे हुये रहना, वीतरागता की तरफ लक्ष्य ही नहीं होना सो ऐसा उपयोग तो बहिरात्म मिथ्यादृष्टि जीव का होता है जिसको अशुभोपयोग कहते हैं इसी का नाम अनात्मभाव रूप होने से अधर्म है। परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर फिर मैं नित्य ज्ञानस्वरूप हूँ, देह मे रह कर भी देह से भिन्न हूँ, शरीरादि के साथ ममत्व को लेकर रागादिमान् हो रहा हूं अगर उस ममत्व को मिटादूँ तो वीतराग और सर्वज्ञ हो सकता हूँ इत्यादिरूप से अपने श्रद्धान में वीतरागताको स्वीकार किये हुये उदारतारूप सद्विचार का नाम ही शुभोपयोग है जो कि अव्रत सम्यग्दृष्टि की दशा में प्रशस्त, देशविरत के प्रशस्ततर और सकलविरत के प्रशस्ततम होता है। आत्मत्व को स्वीकार किये हुये होनेके कारण वह धर्म कहा जाकर उसके साथ एकाग्रतारूप चित्त परिणति का होना ही धर्मध्यान है जो कि तरतमरूप में चोथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान के अन्त तक होता है। उससे ऊपर अपूर्वकरणादिगुणस्थानों में वही शुक्ल (शुद्धोपयोग) ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि श्री आदिपुराण जी में कहा है देखो—

प्रबुद्धधीरधःश्रेण्या धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः

सएवं लक्षणोध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलां

क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्टं (शुक्लं नाम) ध्यानमृच्छति ॥

शङ्का— यह तो ठीक है शुक्लध्यान तो सप्तमगुणस्थान से ऊपर में ही होता है, मगर शुद्धोपयोग तो आत्मीक शुद्धताका नाम है सो चतुर्थगुणस्थान में जब दर्शनमोह नष्ट होचुका तो उतने रूपमें वहां शुद्धोपयोग भी होलिया ऐसा हमलोग तो समझते हैं !

उत्तर— उपयोग नाम अभिप्राय का है वह तीन तरह का होता है अशुभ, शुभ और शुद्ध । उसमें अशुभोपयोग दुरभिप्राय का नाम है जो कि मोह यानी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धि-रूप कषाय की वजहसे वस्तुतत्वके बारेमें भुलावेके रूपमें होता है। जिससे कि यह जीव घोर दुर्ध्यान को करने वाला होता है और सत्यार्थश्रद्धानरूप सदभिप्राय का नाम शुभोपयोग है, जिसका धारक जीव शुभलेश्या को अपना कर जब वस्तुतत्व के विचार में एकाग्रता से लगा रहता है उस समय उसके प्रशस्त (धर्म) ध्यान होता है । और वही जब अपने रागादि विकारभावों को सर्वथा नष्ट करके निश्चलरूपसे अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव करने में निमग्न होलेता है उस समय उसके शुद्धोपयोग होता है ऐसा श्री ज्ञानार्णव जी में लिखा है देखो—

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥२६॥
पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्
चिन्तनाद्वस्तुतत्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥२८॥

क्षीणे रागादि सन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि
यः स्वरूपोपलम्भ स्यात् सशुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥३२॥अ०३

शङ्का— मिथ्यादृष्टि जीव जब तीव्र कषायके बस होकर खोटी चेष्टा करता है तो उसके पाप रूप अशुभोपयोग होता है। और वही जब शुभलेश्यावान् होकर अच्छी परोपकारादि रूप चेष्टा करता है तो उसके पुण्य रूप शुभोपयोग होता है। परन्तु जब रागादि की सन्तात क्षीण यानी हलकी हो लेती है अनन्तानुबन्धी रूप नही रहती उस समय उस अन्तरात्मा में अपने आत्मस्वरूप का उपलंभरूप शुद्धोपयोग हो लेता है ऐसा अर्थ लेलिया जाये तो क्या हानि होती है ?

उत्तर— प्रथम तो क्षीण शब्द का अर्थ बिलकुल नष्ट हो जाना ही होता है और वास्तविक शुद्धोपयोग पूरी तोर से रागादि भावों के नाश होने पर क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान में ही होता है जैसा कि उपर्युक्त श्लोक मे लिखा गया है और वहीं स्वरूपोपलम्भ रूप स्वरूपाचरण चारित्र, जैसा कि अपने छहढाले मे दोलतराम जी ने भी लिखा है। फिर भी अगर तुम्हारा कहना मान लिया जाय और शुद्धोपयोग का आंशिक प्रारम्भ चतुर्थगुणस्थान से होलेता है ऐसा अर्थ उक्त श्लोक का लिया जाय एवं शुभोपयोग मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही होता है ऐसा समझा जाय तो वह ठीक नहीं बैठता क्योंकि मिथ्या- दृष्टि के वस्तुतत्व का चिन्तनरूप प्रशस्तध्यान कभी किसी हालत में नही होता ऐसा इसी ज्ञानार्णव ग्रन्थमें आगे गुणदोष

विचारात्मक चतुर्थ अध्याय में लिखा हुवा है कि भले ही गधे के सींग और आकाश का फूल हो जाय तो हो जावो किन्तु गृहस्थावस्थावालों को प्रशस्तध्यान नही हो सकता तिस पर भी मिथ्यादृष्टियोंको तो स्वप्नमात्र भी सम्यग्ध्यानका नही हो सकता क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव वस्तुस्वरूप को अपनी इच्छानुसार स्वीकार किये हुये रहता है देखो—

खपुष्पमथवा शृंगंखरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपिध्यान–सिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥
दुर्दृशामपिनध्यान–सिद्धिःस्वप्नेऽपिजायते।
गृह्णतांदृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातंयदृच्छया ॥ २८ ॥

और भी सुनो देखो—

रत्नत्रयमनासाद्यय: साक्षात्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुतेमूढः स वन्ध्यासुतशेखरं ॥ ६ ॥ अ० ६

शङ्का— अव्रत सम्यग्दृष्टिके भी धर्म ध्यान तो हमारे आगमग्रन्थों मे स्पष्ट रूप से लिखा ही हुवा है

उत्तर— तुम ठीक कहते हो परन्तु अव्रतसम्यग्दृष्टि के जो ध्यान होता है वह भावनात्मक धर्म–ध्यान होता है चित्त की एकाग्रता रूप दृढ धर्मध्यान संयमी मुनियों के ही होता है और ज्ञानार्णवकार उसी को ध्यान कहते हैं इसी लिये तो ऐसा लिखते है देखो ज्ञानार्णव ग्रन्थ अध्याय २५ में

एकचिन्तानिरोधोयस्तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्तावातज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥

अस्तु। इस सब लिखने का आचार्य श्री का स्पष्ट मतलब यही है कि शुभोपयोग चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होता है और धर्मध्यान भी, जो कि उत्तरोत्तर विशद से विशद होते हुये जाकर सातवें गुणस्थान के अन्त में पूर्ण होता है जहां पर कि रूपातीत नाम का सुदृढ़ धर्मध्यान हो लेता है और वही धर्मध्यान उससे ऊपर में शुक्लध्यान–शुद्धोपयोग के रूप में परिणत होकर दशवें गुणस्थान के अन्त में सम्पन्न होता है उससे नीचे अष्टमादिगुणस्थानों में तो वह पूर्ण वीतरागरूप न होकर विद्यमान रागांश को मिटाने में तत्परतारूप अपूर्ण होता है जिसके साथ वहां पर रागांश भी यत्किञ्चित् होता ही है जैसा कि जिनागम का कहना है।

और जब कि वहां भाव में रागांश विद्यमान होता है, अतः उतना वन्ध भी होता ही है, इस लिये वहां ज्ञानचेतना नही किन्तु वहां भी अज्ञानचेतना ही होती है ऐसा बतलाते हैं—

आसम्परायं सुदृशोऽप्यबोध–संचेतनेत्यर्हदधीतिबोधः।
ततोऽत्रबन्धोऽर्थपुनर्नजातुस्याज्ज्ञानसंचेतनयाप्रमातुः ॥७२॥

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि बहिरात्म जीवों के तो कर्म तथा कर्मफलरूप अज्ञानचेतना होती ही है किन्तु सम्यग्दर्शनधारक जीव के भी दशमगुणस्थन तक, जहां तक जरासा भी कषायभाव विद्यमान रहता है वहां तक अज्ञानचेतना ही होती है

जिसके कि द्वारा उसके कर्मवन्ध होता रहता है। दशवें गुण-स्थान से उपर कषायों का अभाव होजाने से इस आत्मा के ज्ञानचेतना होती है, ताकि नवीन कर्मवन्ध का सर्वथा अभाव होजाता है, ऐसा श्री जैनागम का कहना है। जैसा कि—

अण्णाणमवो भावो अणाणिणो कुणदितेण कम्माणि
णाणमओ णाणिस्सदुणकुणादितम्हादुकम्माणि ॥ १२७ ॥

श्री समयसार जी की इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि अज्ञानी जीव के अज्ञानभावना यानी चेतना होती है ताकि वह कर्मबन्ध करता है परन्तु ज्ञानी जीव के ज्ञानभावना यानी चेतना हो लेती है ताकि फिर वह कर्मवन्ध नहीं किया करता है। मतलब यह कि जहां तक जीव कुछ भी नवीनवन्ध करता रहता है वहां तक वह अज्ञानी है उसके अज्ञानचेतना है, जैसा कि आगे चलकर उसी समयसार जी की गाथा नम्बर ३८९ में भी बतलाया गया है।

ज्ञान या अज्ञान चेतना का खुलासा—

जो वस्तु को सिर्फ उदासीन भाव से जानता मात्र हो उसे ज्ञान कहते हैं और जो साथ में इष्टानिष्ट-विकल्प को लिये हुये रागद्वेषात्मक हो उस ज्ञानको ही आचार्यों ने अज्ञान बतलाया है एवं चेतनानाम/ तद्रूपपरिणमन का है। इस प्रकार ज्ञानचेतना कहो चाहे शुद्धोपयोग कहो दोनों एक बात है, जिसके कि होने पर बिलकुल बन्ध नहीं होता। उससे उलटी

अज्ञान चेतना होती है जिसके कि होने पर बन्ध हुये बिना नहीं रहता। यानी अज्ञान चेतना आत्मा के अशुद्धपरिणमन का ही नाम है। जैसा कि समयसार नामक ग्रन्थ में लिखा हुवा है देखो—

पर म प्पाणं कुव्वं अप्पाणं पिय परं किरन्तो सो।
अण्णा णमवो जीवो कम्माणं कारगो होदि॥ ६२॥

अर्थात्— पर को अपनाने वाला अथवा यों कहो कि अपने आपको पर यानी विकार रूप करने वाला जीव, अज्ञान-चेतना का धारक होता है जो कि निरन्तर नवीन बन्ध करता रहता है। परन्तु जो परपदार्थों को बिलकुल नही अपनाता उनसे सर्वथा दूर हो रहता है, अपने आपको कभी भी विकृत नही होने देता अतः जो नूतन कर्म बन्ध करने से रहजाता है वही ज्ञानचेतनावान् होता है। जैसा कि वहीं उसके नीचे लिखा गया हुआ है देखो—

परमप्पाणमकुव्वं, अप्पाणं पिय परं अकुव्वन्तो।
सोणाणमवोजीवोकम्माणमकारगो होदि॥ ६३॥

एवं दोनो तरह से लिखने का आचार्य श्री का स्पष्ट मतलब यही है कि- जो जरासा भी नूतनकर्मबन्ध करने वाला है वह अज्ञानी जीव है, अज्ञानचेतनावान् है। इसी लिये इससे आगे की गाथा में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि- यहां पर अज्ञानशब्द का अर्थ- अतत्वश्रद्धान, चञ्चल-ज्ञान और अविरत परिणमन ये तीनों ही लेना चाहिये जैसा

कि उस चौराणवे नम्बर की गाथा की टीका में श्रीअमृतचन्द्राचार्य जी ने भी लिखा है— एप खलु सामान्येनाज्ञानरूपोभाव: स मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविध: सविकारश्चैतन्यपरिणाम: । यानी आचार्य महाराज का कहना है कि- जहां तक भी आत्मा मे विकारभाव है, फिर चाहे वह विपरीताभिनिवेश रूप हो या इष्टानिष्ट विचार रूप एवं चपलता रूप, किसी भी प्रकार का हो सभी अज्ञान चेतनामय होता है। हां यह बात अवश्य है कि- आत्मा का वह अज्ञानचेतनारूप अशुद्धपरिमणन भी दो तरह का होता है- एक तो अशुभोपयोग, दूसरा शुभोपयोग । सो मिथ्यादृष्टि अवस्था में तो अशुभोपयोगरूप अज्ञानचेतनापरिणाम होता है, जो कि घोरकर्मबन्ध करने वाला होता है किन्तु सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी जहां तक रागांश रहता है वहां तक शुभोपयोगरूप अज्ञानचेतनापरिणाम, गृहस्थों के ही नहीं अपितु मुनियों के भी होता है ताकि स्वल्प या स्वल्पतर नूतन कर्मबन्ध होता ही रहता है । जहा उपयोग की शुद्धता रूप ज्ञान चेतना हुई कि बन्ध का अभाव होलेता है ऐसा प्रवचनसार जी में भी लिखा हुआ है देखो—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोपजुत्ता य होंति समयह्मि ।
तेसु विसुद्धवजुत्ता अणासवा सासवासेसा ॥ ४५ ॥ ३ ।

तात्पर्य यही कि- श्री समयसार जी में जिसको ज्ञानभाव या ज्ञान चेतना नाम से लिया गया है उसी को प्रवचन-

सार जी मे शुद्धोपयोग शब्द से कहा गया है। जो कि स्पष्ट वीतरागता रूप होता है और जिसके कि होजाने पर फिर कर्म वन्ध होने से रह जाता है। जो कि वस्तुतः दशवें गुण-स्थान से ऊपर होता है, उससे पहले नहीं होता। इतना सब कुछ होने पर भी कुछ जैन भाइयों का विचार है कि- जहां चतुर्थ गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन हुवा कि उसके साथ ही साथ वहां ज्ञान चेतना भी हो जाती है और इसके साथ ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने पर कर्मवन्ध होनेसे भी रह जाता है जैसा कि- श्री समयसार जी की गाथा में लिखा हुवा है—

णत्थिदुआसववन्धो सम्भाइठ्ठिस्स आसवणिरोहो।
सन्ते पुव्वणिवद्धे जाणदि सो ते अवन्धन्तो॥ १६६ ॥

परन्तु उन्हें शोचना चाहिये कि- आचार्य श्री ने इस गाथामें सम्यग्दृष्टि शब्दसे वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है जैसा कि- श्री जयसेनाचार्य ने इसकी उत्थानिका में लिखा है और श्री समयसार जी का प्रायः वर्णन वीतराग सम्यक्त्व को लेकर ही चलता है ऐसा ग्रन्थ के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है। जो कि- वीतराग सम्यक्त्व दशवे गुणस्थान से ऊपर में होता है। और जहां पर आत्मा सचमुच नवीन कर्म-वन्ध करने से रहित होजाता है क्योंकि भावाश्रव (रागद्वेषपरि-णाम) का उसके बिलकुल अभाव हो लेता है। अतः वह अपने प्रसङ्ग प्राप्त पूर्ववद्ध कर्मोंको जानता मात्र है किन्तु उनके निमित्त से जरासा भी विकृत नही होता। उसका उपयोग सर्वथा

शुद्ध होता है, ज्ञान चेतना मय होता है,सो ठीक ही है । परन्तु एक सम्मगदृष्टि शब्द को लेकर उसी बात को सरागसम्यग्दृष्टि के अन्दर भी घटित करना ठीक नही होता क्योंकि —

देवायुषोवन्धनमप्रमत्त—गुणस्थलान्तंक्रियतेजगत्तः ।
दैवेभवेतस्यसतोमनुष्या—युषोऽपिवन्धःमृतरामनुस्यात् ७३

अर्थात्—सम्यग्दर्शन होजाने पर भी यथासम्भव ज्ञानावरणादि कर्मों का वन्ध तो अव्रतसम्यग्दृष्ट्यादि जीवों के भी होता ही है साथमें सातवेंगुणस्थान तक तो देवायु:कर्म का भी वन्ध होता है तथा देव होजाने पर उसी सम्यग्दृष्टि जीव के मनुष्यायु:कर्म का वन्ध भी होता है। ताकि वह भी मनुष्य होकर,मिथ्यादृष्टियों की सी भूलभरी चेष्टा किया करता है जैसे कि रामचन्द्र जी लक्ष्मण के मुरदा शरीर को भी छः महीनों तक लिये हुये घूमते रहे । भरत जी ने आवेश में आकर बाहुबलिपर चक्र चलादिया. राजा श्रेणिक ने आत्मघात कर लिया इत्यादि फिर भी उनके ज्ञानचेतना जाग्रत ही कही जावे,यह कैसे हो सकता है इस पर शंका—,

-कर्मान्यदन्यत्र न कार्यकारि किं वृत्तमोहोऽस्तुदृशोकिलारिः ।
इत्थंवचश्चेन्निगदाम्यतोऽहंज्ञानेसृपाल्याय न दृष्टिमोहः ॥७४॥

अर्थात् यह सब खेल तो उन उन सम्यग्दृष्टियो के जो चारित्र मोह विद्यमान था उसके उदय से होगया ऐसा कहना चाहिये । चारित्र मोह जुदी चीज है औरसम्यक्त्व उससे जुदी

चीज जो कि दर्शन मोहके अभावसे प्रगट होता है। चारित्र मोहका उदय अपना कार्य करता है वह चारित्रमें दोष पैदा करता रहता है, सम्यग्दर्शन और ज्ञान से उसका क्या सम्बन्ध है ? जैसा कि राजमल जी काष्ठासंघीकृत पञ्चाध्यायी मे लिखा है—

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिक.स्फुट

सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञानेवाऽनुदयात्मके ॥६२७॥

अर्थात्—सम्यक्त्वतो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिकभावरूप होता है । ज्ञान अव्रतसम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिकभावरूप हुआ करता है, किसी कर्मके उदय से नही होता अतः चारित्रमोह के उदय से होनेवाला औदयिकभाव जो है वह सम्यक्त्व मे या ज्ञानमें दोष कारक नहीं हो सकता वह तो चारित्र मे ही दोप पैदा करेगा ।

अनन्नपिह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वक:

नूनं हन्तुं क्षमोनस्याज्ज्ञानसञ्चेतनामिमां ॥६२८॥

सारांश यह कि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का बन्धोदय न होने से अप्रत्याख्यानावरणादिरूपरागद्वेप, ज्ञानचेतना में बाधक नही हो सकते । एवं च फिर सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ऐसे दो भेद न होकर वह तो सदा एकहीसा रहता है जैसा कि इस श्लोक मे लिखा है—

तस्मात्सम्यक्त्वमेकंस्यादर्थात्तल्लक्षणादपि

तद्यथाऽवश्यकी तत्रविद्यते ज्ञानचेतना ॥६३३॥

मतलब यह कि सम्यक्त्व का तो, दर्शनमोह के अभाव-

स्वरूप एक ही लक्षण सब जगह विद्यमान रहता है, अतः सम्यक्त्व तो एक ही होता है और जब सम्यक्त्व एक है तो उसके साथमें होने वाली ज्ञानचेतना भी फिर उसमें सब जगह सदा रहती है। उसमें चारित्रमोह के उदय से होनेवाला राग कुछ भी बाधा नही करता क्यों कि अन्य कर्म का उदय अन्यत्र क्यों बाधा करने लगा? सो अगर ऐसा मानलिया जावे तो फिर ज्ञान में मिथ्यापन लानेवाला दर्शनमोह को जो कहा गया है वह भी नही होना चाहिये। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के ग्यारह अंग और दशपूर्व के ज्ञान को जो मिथ्याज्ञान कहागया है सो भी क्यों? क्यों कि वहां श्रुतज्ञानावरणीयकर्म का तो क्षयोपशम होता ही है वहां पर तो दर्शनमोह के उदय से ही ज्ञान-मिथ्याज्ञान होता है। तथा च—

चारित्रमोहः सुतरामनन्ता-नुवन्धिनामाकथितः समन्तात्।
अभावतो यस्य विना न सम्यग्दृष्टिर्भवत्येपविवेकगम्यः ७५

अर्थात्—अनन्तानुबन्धि क्रोधमानमाया और लोभरूप-भाव,चारित्रमोहकर्मका ही तो प्रभाव है जिसके कि दूर हुये बिना यह आत्मा सम्यग्दृष्टि नही होसकता अतः यह कहना ठीक नही कि एक कर्म का कार्य, दूसरा कर्म कभी किसी हालत में भी नहीं कर सकता। किञ्च दर्शनमोहकर्म और चारित्रमोह कर्म सर्वथा भिन्न हैं भी कहां किन्तु मोहनीयकर्म ही के तो दो भेद हैं अतः मोहनीयत्वेन दोनों एक ही तो हैं। और तब फिर

यह बात ठीक ही होजाती है कि सम्यग्दृष्टि जीव के जब तक चारित्रमोह का सद्भाव रहता है तब तक उसका सम्यक्त्व सराग होता है और चारित्रमोह के अभाव में वह वीतराग-सम्यक्त्व होलेता है । एवं सरागदशा में उसके सत्कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना होती है किन्तु वीतराग-दशा में ज्ञानचेतना । इस पर फिर शङ्काकार कहता है कि—

दृग्मोनाशान्नुजायमानं सुदृक्त्वमेकंसुविधानिधानं ।
कुतोऽत्रमोरक्तविरक्तनाम-भेदंगुणोवस्तुतयेतियामः ॥७६॥

अर्थात्— आपने कहा सो तो सुना बाकी सम्यक्त्व तो वही एक है जो कि तीन तो दर्शनमोह की और चार अनन्ता-नुबन्धि की इन सात प्रकृतियों के अभाव से हुवा है और जिसके कि होने से यह आत्मा मोक्ष का पात्र होलिया या होजाता है । उसमे सरागता और वीतरागता जो होती है वह तो इतनी ही कि जो रागसहित हो या चारित्ररहित वह तो सराग और जो रागरहित वा यथार्थचारित्रसहित वह विराग-सम्यक्त्व । सो यह तो वैसा ही भेद हुवा कि देवदत्त, यज्ञदत्त सहित हो या उससे रहित अकेला हो सो यह तो सिर्फ व्यपदे-शात्मक भेद आया वास्तविकक्याभेद हुवा ? कुछ भी नही हुवा ।

अत्रोच्यतेस्पष्टतयामयेदंदृग्ज्ञानवृत्तेपुनवस्तुभेदः ।
विवेचनैवात्मनिदर्शनेनज्ञानेनवृत्तेनकिलेत्यनेनः ॥ ७७॥

अर्थात्— उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह कि श्रद्धानज्ञान

और आचरण यानी मानना, जानना और अनुभवकरना ये तीनों बातें कोई छबड़ी में भी आम, नीम्बू और नारंगी की भांति वस्तुतः आत्मा में भिन्न भिन्न है क्या ? किन्तु नहीं। ये तीनों तो आत्मा के परिणाम है जो कि आत्मा के साथ मे अनुस्यूत है। सिर्फ इनके द्वारा आत्मा का विवेचन होता है जैसे कि अग्नि को जब हमें किसी दूसरे को समझाना होता है तो उसके दाहकपन, पाचकपन और प्रकाशकपन के द्वारा उसे हम समझने और समझाने लगते है परन्तु जहां भी अग्नि के इन तीनो गुणो मे कुछ कमी आई, तीनों में से एक में भी अगर कुछ कमी आई कि खुद अग्नि मे ही कमी होजाती है, एवं जहां अग्नि में कमी आई, तो फिर उनके शेष गुणों में भी कमी होना सहज ही है। बस तो यही हाल दर्शनज्ञान और चारित्र के साथ में आत्मा का है जैसा कि समयसार जी की इस गाथा में कहा गया हुवा है देखो—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणंणाणं
णविणाणंण चरित्तंणदंसणं जाणगोसुद्धो ॥७॥

अर्थात्–आत्मा एक वस्तु है गुणी है और अनन्तधर्मात्मक है। उस आत्माके दर्शनज्ञान और चारित्र ये तीनों खासगुण हैं सो कहनेमात्र के लिये तो ये तीनो भिन्न-भिन्न है। दर्शन यानी देखना या श्रद्धान करना। ज्ञान यानी जानना या समझना। चारित्र यानी चलना या लीन हो रहना। मगर जब गहराई से शोचे तो आत्मा से भिन्न न तो कोई दर्शन ही है न ज्ञान ही

और न चारित्र ही, अपितु तीनोंमय यह एक आत्मा ही है जब ये बिगड़े हुये हैं तो आत्मा ही बिगड़ रहा है और इन तीनों के सुधरने से आत्मा ही सुधरता है और सुधार का नाम ही सम्यक्त्व है सो बताते हैं—

सम्यक्त्वमेतन्नगुणोऽस्त्यवस्थातेषांचमिथ्यात्वमिवव्यवस्था।
स्फूर्तिःसमंतूर्यगुणस्थलेऽतोभवेत्प्रपूर्तिर्भवसिन्धुसेतोः॥ ७८॥

अर्थात्— सम्यक्त्व यह उन गुणोंकी सुधरी हुई अवस्था का नाम है जैसा कि बिगड़ी हुई हालत का नाम मिथ्यात्व। जहां भी सम्यक्त्व को गुण कहा गया है वह प्रशंसात्मकरूप में है जैसे किसी भी चीजके सुहाते हुये रूप को तो गुण कहते हैं, तो उसके न सुहाते हुये उसी रूप को हम अवगुण कहा करते हैं, वैसी ही बात यहां पर भी है। सो मिथ्यात्व अवस्था तो अनादि से चलीआई हुई है और सम्यक्त्व अवस्था चतुर्थ-गुणस्थान से शुरू होती है। मतलब यह कि जब इस जीव का संसार खतम होनेको होता है तो उन गुणोंकी बिगड़ीहुई हालत जहां से सुधरना शुरू होती है उसे चतुर्थगुणस्थान कहते है। वहां से सुधरते सुधरते जाकर वह चौदवें गुणस्थान में अपनी ठीक पूरीहालत पर पहुंचती है, जैसे कि कपड़ा धुलते धुलते कुछ देर में साफ हो जाता है। सो वह आत्मसुधार दो तरह से होता है-एक तो यत्नसाध्य, दूसरा उसके अनन्तर अनायास रूप से होनेवाला। सो ही बताते हैं—

प्रयत्नवाना दशमस्थलन्तु, यतोऽयमात्माव्यवहारतन्तुः ।
निसर्गभावेन निजात्मगूढस्ततःपुनर्निश्चय-मार्गरूढः ॥८०॥

अर्थात्— चतुर्थगुणस्थान से लेकर दशमगुणस्थान तक तो यह आत्मा अपने आपे में से रागादिभावरूप मलको दूर करते हुये, प्रयत्नपूर्वक अपने सम्यग्दर्शनादिगुणों का विकाश करता है, अतः वह तो–विशेषेण=यत्नपूर्वकं दोषस्यावहारो यत्र-स व्यवहारः, इस प्रकार की निरुक्ति को लेकर व्यवहार-मोक्षमार्ग कहाजाता है। परन्तु उसके बाद चोदहवें गुणस्थान तक यह आत्मा अपने उन गुणों की सहजपुष्टि प्राप्त करता है इस लिये-निसर्गेण, निसर्गस्य वा चयनं यत्र स निश्चयः, इस प्रकार अर्थ को लेकर निश्चयमोक्षमार्ग होता है। यानी दर्शन-मोह के उपशमादि द्वारा तत्वार्थश्रद्धान प्राप्त करते हुये, चतुर्थ-गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शन और तत्पूर्वक अणुव्रत, महाव्रतादि का पालन करना सो व्यवहारसम्यक्चारित्र, एवं उनकेसाथ जो सचेष्ट सम्यग्ज्ञान हो वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान होता है।

शङ्का–हम तो समझते हैं कि–श्री अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थदिगम्बर गुरु और दयामय जैनधर्म पर विश्वासलाना, सो व्यवहार-सम्यक्त्व है जो कि मिथ्यात्वावस्था में ही हो लेता है। उसके बाद, दर्शनमोह गलकर जब सत्यतत्वार्थश्रद्धान होता है वह तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव का निश्चय-सम्यग्दर्शन ही है; भले ही उसे आनुषाङ्गिकरूपमें सराग कहाजाता है।

उत्तर— यह बतावो कि- जिसको श्री अरहन्तदेव पर विश्वास है उसको उनके स्वरूप-सर्वज्ञत्व और वीतरागत्वपर विश्वास है या नही ? अगर नही तब तो उसका अरहन्तविषयकश्रद्धान भी बनावटी है क्यों कि स्वरूपके विना स्वरूपवाले का विश्वास कैसा ? अतः वह उसका श्रद्धान, श्रद्धानाभास है-मिथ्यात्व ही है उसीको सम्यक्त्व मानना या कहना तो भूल है, व्यवहारभास है । और यदि अरहन्त के सर्वज्ञत्व एवं वीतरागत्व पर विश्वास है तो फिर वह सप्ततत्वविषयकश्रद्धान से भिन्न चीज नही है क्यों कि राग का निरसन ही वीतरागत्व है जो कि रागके सद्भावपूर्वक होता है और रागका होना ही आश्रव-बन्धात्मक होकर संसार है एवं उसका अभाव होना ही सम्बर-निर्जरात्मक होकर अन्तमें मोक्ष हो रहता है । सो ऐसा सप्ततत्व विषयकश्रद्धान या श्रीअरहन्त के स्वरूपविषयकश्रद्धान, मोहगले विना हो नही सकता, जो कि चतुर्थगुणस्थान में होता है । जिसका गुणगान स्वामी समन्तभद्राचार्य जी ने अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में किया है कि— यह सम्यग्दृष्टि स्वर्ग जाकर तो इन्द्र होता है, वहां से आकर तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती वगेरह पद प्राप्त करता है । नारकीयशरीर, पशुशरीर, नारीपन, नपुंसकपन सरीखी हीनदशा को नहीं पाता इत्यादि । हां वहां पर सत्यार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को पाकर भी वहां अंकुरित हुये अपने सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रको बढाने के लिये एवं अपने सम्यक्त्व को अधिक से अधिक चमकाने के लिये सचेष्ट होता

है। अपनी आत्मा में लगेहुये रागादिमल को दूर करने में यत्नशील होता है अतः उसके इस कर्तव्य को व्यवहारमोक्ष-मार्ग कहाजाता है। जो कि कपड़े को पानी और साबुन से धोकर साफ करनेके समान है। इस के बाद बारहवे गुणस्थान में स्पष्टशुक्लध्यान के द्वारा उसके पूर्वबद्धज्ञानावरणादिघाति-त्रयकर्म दूर किये जाते हैं जैसे कि धुलजाने पर कपड़े को निचोड़कर उसमें होनेवाला जल निकालदिया जाता है, फिर सूककर कपड़ा अपने आप निखर जाया करता है। वैसे ही आत्मा तेरहवें और चौदहवे गुणस्थानमें पहुंचकर मुक्तहोलेता है। एवं इनके क्रमविकाश को नीचे स्पष्ट करते है—

आसप्तमान्तं प्रथमन्तुतूर्याच्छुद्धानमाहुर्जिनवाचिधूर्याः।
सद्वृत्तिरूपं चरणं श्रुतं च तथैव नाम व्यवहार मञ्चत् ॥८१॥

अर्थात्— चतुर्थगुणस्थान में जब सम्यक्त्व प्रगट होता है तो तीन दर्शनमोह की और चार अनन्तानुबन्धि क्रोधमान-माया लोभ नाम वाली इन सात प्रकृतियों को दबादेने से वहां पर इसभव्य आत्मामें निर्मलता आतीहै, वैसे ही ज्ञानावरणीय का भी कुछ विशिष्टक्षयोपशम होताहै, ताकि वह गुरु की वाणीको या तत्वों के स्वरूपको ठीक ग्रहण करने और समझने पासकता है। एवं जैनशासन के जानकारलोग चोथेगुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के सम्यग्दर्शन को तो प्रथम सम्यग्दर्शन और वहां होनेवाले सत्प्रवृत्तिरूपचारित्र को सदाचार तथा उसके श्रुतज्ञान को व्यवहारश्रुतज्ञान कहते हैं, मतलब यह कि

पहले-जो यह शरीर है सो ही मै हूं, ऐसा विश्वास था वह बदलकर चतुर्थगुणस्थान में यह विश्वास होलेता है कि इस जडशरीर से मै भिन्न चीज हूं, चिन्मय हूँ । वैसे ही इच्छानुसार खाना, पीना, पहरना वगैरह मे ही सुख है, ऐसा अनुभव था, इसलिये अन्धाधुन्ध इनमें प्रवृत्ति करता था, परन्तु अब मानता है कि सुख तो मेरी आत्मा का गुण है अतः वर्तमान असह्य कष्ट के प्रतीकारस्वरूप विषयों का अनुभव करता है, ताकि समयोचित विचारपूर्वक प्रवृत्ति करने लगजाता है। एवं पहले तो समझता था कि मुझे जो कुछ ज्ञान है वह इन इन्द्रियों से ही हो रहा है, अतः इन्द्रियो का दास बनाहुवा था, मगर अब शोचता है कि ज्ञान तो मेरी आत्मा का निजगुण है जो कि मुझ मे है वह वस्तुतः सदा अतीन्द्रिय ही है उसीके द्वारा मै जानता हूँ। हां यह बात दूसरी कि जब तक छद्मस्थ हूं तब तक इन्द्रियो की ही नही, अपितु वाह्यप्रकाशादि की भी सहायता लेनी पड़ती है, जैसे कि चिरकाल का अल्पशक्तिरोगी जब चलना चाहता है तो चलता तो आप ही है परन्तु किसी दूसरे के कन्धेवगैरहके सहारेसे चलता है उसके विना नहीं चलसकता।

शङ्का-तो क्या छद्मस्थको इन्द्रियोंके विना ज्ञान नही होसकता? अगर हां तो फिर यह मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की है ही कि इन्द्रियो से ज्ञान होता है जो कि गलत मान्यता है क्यो कि इस में तो निमित्त और उपादान एक ही होजाता है।

उत्तर— ज्ञान का होना क्या? ज्ञान तो आत्मा का गुण जैसा

कि ऊपर बताया ही गया है वह हरेक की आत्मा में सदा से है निगोदियालब्ध्यपर्याप्तक से लेकर केवलज्ञानी भगवान की आत्मा तक में अखण्डरूप से विद्यमान रहता है। परन्तु उसका कार्य पूर्णज्ञानी के तो निःसहाय होता है और अल्पज्ञ का ज्ञान अपना कार्य इन्द्रियादिकी सहायता से करता है। इसमें उपादान और निमित्त एक कैसे होगया। उपादान तो आत्मा है या ज्ञान की तत्पूर्वपर्याय है। इन्द्रियादिक तो सहकारी निमित्त होते है सो जैसा निमित्त पाता है छद्मस्थ का ज्ञान उसके अधीन होकर चलता है। यह तो वस्तु का वस्तुत्व है अगर इसको भी नही मानने वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है तब तो तुम्हारी समझ में फिर सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आंखे कमजोर होजाने पर अपनी आंखों पर ऐनक लगा कर भी काम नहीं निकालता होगा ? अथवा पुष्पदन्त क्षुल्लक के कहने पर अपनी विक्रियर्द्धिका ज्ञान करने के लिये हाथ फैलाने वाले विष्णुकुमार स्वामी भी फिर मिथ्यदृष्टि ही होवेंगे। किन्तु "असुहादो-विणिवित्तीसुहेपवित्तीयजाण चारित" इस गाथार्द्ध के अनुसार अशुभ से दूर हटकर शुभमें प्रवृत्ति करना यही तो चारित्र यानी सम्यग्दृष्टि का कार्य है और इसी में समझदार की समझदारी होती है। संसार की तरफ का बल रखनेवाली बात अशुभ और मुक्ति की तरफ का बल देनेवाली बात शुभ होती है, जिसमें कि बुद्धिपूर्वक सम्यग्दृष्टिजीव प्रवृत्त होता है यही उसका सरागपन है।

आतम हित हेतु विरागज्ञान, ते लखे आपको कष्टदान ।
रागादि प्रगटजे दुःख देन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥

छह ढाले की इस उक्ति के अनुसार मिथ्यादृष्टिजीव तो वीतरागता और विज्ञान का सम्पादन करनेवाली बातो को कष्टदायक मानकर उनसे दूर भागता है और जहां पर रागद्वेष को पोषण मिलता हो ऐसी बातों को च्याव के साथ स्वीकार करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव का कार्य इससे उलट होता है। वह पूर्वकृत कर्म की चपेट में आकर भलेही विषयभोगों की तरफ लुढक पड़ता है फिर भी उसके उत्तर क्षणमें उसके बारेमें पश्चात्ताप करके वीतरागता की वार्ताको दृढता के साथ बलपूर्वक पकड़ता है इसी का नाम सदाचार है जो कि सातवें गुणस्थानतक हुवाकरता है उसकेबाद क्या होताहै सोबताते हैं—

निवृत्तिरूपं चरणं सुदेवः श्रद्धानमाहाढमेव देवः
श्रुतं विभावान्वयि सूक्ष्मराग-गुणस्थालान्तं शृणुभोनिरागः ? ।

अर्थात्— इसी प्रकार हे भले आदमी सुनो श्री जिन-भगवान ने हमे बताया है कि सातवेंगुणस्थान तक में जो श्रद्धान होता है वह तो अनवगाढरूप और श्रुतज्ञान जो होता है वह आत्मा मे होनेवाले वैभाविक परिणामों का बतानेवाला होता है तथा उनसे उत्तरोत्तर बचते चले जाना उन्हें दूर करते रहना, उन्हें अपने में न होनेदेना यही वहां पर आत्मा का कार्य रहजाता है जो कि निवृत्त्यात्मक चारित्र कहाता है जो कि तुम्हारे और हमारे सरीखोंके लिये प्रसन्नताकारक माना गया है। जैसे

हमारे शरीरमें कोई कांटा चुभ गया हुवा हो तो उसे निकालने के लिये वहां के शरीरके अंशको खुरचकर कांठे को ढीला करके निकाला जाता है। वैसे ही श्रद्धान के साथ में जो राग लगा हुवा होता है उसको उखाड़ बाहर किया जाता है इसी लिये वहां पर सम्यंदर्शन को अनवगाढ माना है। जो कि सूक्ष्म सम्पंरायनामक दशमगुणस्थान तक होता है इससे परे—

भावश्रुतज्ञानमतः परन्तु भवेद्यथाख्यातचरित्रतन्तु
श्रद्धानमेवं दृढमात्मनस्तु गुणत्रयेऽतःपरमत्वमस्तु ॥८३॥

अर्थात्–ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में जाकर श्रद्धान अवगाढ़रूप बनता है जहां पर कि चारित्र पूर्णवीतरागतारूप आत्मतल्लीनता को लिये हुये यथाख्यात बन जाता है और श्रुतज्ञान भी भावश्रुतज्ञान हो जाता है। क्यों कि वहां पर और सब बातों को भुला कर सिर्फ अपनी शुद्धात्मा के परिणामों का ही विचार रहजाता है। उस समय इस आत्मा के उपयोग में शुद्धरूप आत्मभावों के सिवाय और कुछ नहीं होता अतः वास्तविक श्रुतकेवली कहलाने का अधिकारी भी होलेता है जैसा कि समयसार जी मे बतलाया गया है देखो—

जोहिसुयेणहि गच्छंइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं
तंसुयकेवलिमिसिणोभणन्ति लोयप्पईवयरा ॥६॥

यद्यपि क्षयोपशम की अपेक्षा से तो इसके द्वादशाङ्गज्ञान होता है क्योंकि उसके बिना जैसा कि तत्वार्थसूत्र जी में

बतलाया गया है, शुक्लध्यान का प्रारम्भ ही नही कर पासकता है। मगर यह अपनी इस नि.केवल आत्मभावना के द्वारा घातिया कर्मोंका नाश करनेमें प्रस्तुत होता है इसकी इस आत्मा-नुभवरूप अवस्था का नाम ही ज्ञानचेतना है जिसके कि द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त करलेने पर इसके सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों अपरमपन का उल्लंघन करके परमपन को प्राप्त हो लेते हैं। इस तरह से आत्मा के इन तीनों भावों में परस्पर पोष्य पोषकपना है। आत्मा वृक्ष की तरह से है तो सम्यग्दर्शन उसकी जड़ है, सम्यग्ज्ञान उसका स्कन्ध और सम्यक्चारित्र उसके पत्ते वगैरह की भांति है, यद्यपि जड़ होने पर तना होता है और तने में फूल पत्ती वगैरह आती हैं परन्तु फिर उसका तना जितना मोटा ताजा होता जाता है उतनी ही उसकी जड़ भी गहरी होती रहती है एवं उसपर जितने भी अधिक फूल पत्ती आते है उतनी ही उस वृक्षकी अधिक शोभा होती है। अगर कहीं जड़ में कीड़ा लगजावे तब तो पेड और पत्ते कहा, मगर पेड मे भी कोई खराबी आजावे तो फिर फूल पत्ती भी नही हो पावे और जड़ भी फैलने से रहजावे तथा फूल पत्ते अगर नही तो कोरे तने वाले वृक्ष को पूछता कौन है वहा सफलता कहां, या तो उसमे पत्ते फूल अवेंगे ही अन्यथा तो वह कुछ देर मे सूखकर खंखर बनजावेगा। वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नही ही होता मगर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विकाश के

बिना भी सम्यग्दर्शन फलीभूत नही होता। अस्तु। सम्यग्दर्शनादि मे इस प्रकार सम्बन्ध होने से चारित्रमोहनीय का असर भी सम्यग्दर्शन पर रहता है ऐसा न मान कर अगर जो—

मिथ्यात्वतश्चेत् पर एव रागस्तदा विधीनां नवधा विभागः
सम्यक्त्वमाद्यत्ततोविभातिगुणोऽन्यनाशात्किमुनामजातिः

अर्थात्— श्रद्धान को और आचरण को बिलकुल भिन्न मान कर श्रद्धान का घातक दर्शनमोह को और चारित्र का घातक चारित्रमोह को मानते हुये सर्वथा दर्शनमोह से चारित्रमोह को भिन्न कहाजावे तो फिर तो कर्मों के आठभेद न होकर नौ भेद हैं ऐसा कहना चाहिये और तब फिर सिद्ध अवस्था में जो सम्यक्त्वगुण प्रगट हुवा वह तो दर्शनमोहके नाश होने से हुवा, चारित्रमोहनीय के नाश से कौनसा गुण प्रगट हुवा सो भी तो देखो। किन्तु दोनों ही प्रकार के मोह का नाश होने से सम्यक्त्वगुण हुवा अतः दोनों कथंचित एक हैं और जब एक है तो चारित्रमोह के सद्भाव में सम्यक्त्व में अवश्य ही कुछ कमी होती है इस लिये सम्यक्त्व के जो सराग और विराग ऐसे दो भेद किये गये हैं सो वास्तविक ही है, एवं ज्ञानचेतना वीतरागसम्यक्त्वी के ही होती है, सरागसम्यक्त्वी के नहीं ऐसा कहना उपयुक्त ही है।

शङ्का— चतुर्थगुणस्थान में जब दर्शनमोह का उपशमादि होकर सम्यग्दर्शन होजाता है तभी उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान

से पलट कर वह भी सम्यग्ज्ञान बन जाता है, भले ही वह एक चीज को छोड़ कर दूसरी को जान रहा हो, आत्मोपयोगी न होकर स्त्रीसम्भोगादि में लगरहा हो परन्तु उसके सम्यग्ज्ञानत्व में कोई बट्टा नही होता वह सदा रहता है, अतः हर समय ज्ञानचेतना होती है । कर्म और कर्मफलरूप अज्ञानचेतना तो मिथ्यादृष्टि वहिरात्मजीव के ही मिथ्यात्व की वजह से हुवा करती है। सम्यग्दृष्टि के तो जैसे सम्यग्दर्शन है वैसे ही उसके साथ में अखण्डरूप ज्ञानचेतना भी होती है जैसा कि पण्डित राजमल जी काष्ठासंघी ने अपनी पञ्चाध्यायी मे लिखा है—

किञ्च सर्वत्र सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना
अविच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥५२॥

हां जब कि कोई चतुर्थगुणस्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्ट जीवात्मा स्त्री प्रसङ्ग कर रहा होता है या युद्ध में किसी को मार रहा है तो उस समय भी उसके प्रवृत्ति में ऊपर से ही कर्मफलचेतना या कर्मचेतनारूप अज्ञानचेतना होती है अन्तरंग में तो उसके ज्ञानचेतना ही बनी रहती है जैसाकि राजमल जी कृतपञ्चाध्यायी में ही लिखा हुवा है—

अस्तितस्यापिसद्दृष्टेःकस्यचित् कर्मचेतना
अपिकर्मफले सा स्यादर्थतोज्ञानचेतना ॥२७५॥ अ० २

मानलो कि एक आदमी जो कि ज्योतिष, वैद्यक, संगीत वगेरह अनेक तरह के शास्त्र पढा हुवा है और वह काम वैद्यक

का कर रहा है तो उसका ज्योतिष वगैरह का ज्ञान कहीं चला जाता है क्या ? नहीं, अपितु मौजूद रहता है, परन्तु उसके उपयोग में वैद्यकज्ञान उस समय आता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि-जीव भी खाना पीना वगैरह लौकिक काम कर रहा होता है तो उसके उपयोग में तो कर्मचेतना या कर्मफलचेतना होती है फिर भी लब्धिरूप से ज्ञानचेतना बनी रहती है ऐसा स्पष्ट मतलब समझ में आता है।

उत्तर— भैया जी सुनो पण्डित जी की तो पण्डित जी जाने मगर हमारे पूज्य जैनाचार्यों का तो ऐसा कहना नहीं है क्यों कि- "चेत्यते अनुभूयते उपयुज्यते इति चेतना" इस प्रकार चेतना नाम ही जब कि उपयोग का है तो फिर लब्धि-रूपचेतना चीज ही क्या रही, कुछ नहीं। अपितु इस जीव का उपयोग, इष्टानिष्ट विकल्प से सर्वथा रहित एवं पूर्ण वीतरागरूप होता है उस समय उसके ज्ञानचेतना होती है ताकि उसके बन्ध नहीं होता। किन्तु उससे नीचे सराग अवस्था में भले ही वह तत्वार्थ के विपरीत श्रद्धान वाला बहिरात्मा हो चाहे सत्यश्रद्धानयुक्त अनुत्कृष्ट अन्तरात्मा, दोनों के ही अज्ञानचेतना होती है-जो कि यथासम्भव ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध करनेवाली होती है और जो कि अपनी शुद्ध आत्मा के सिवाय और किसी बात पर करने रूप या होने रूप में प्रस्तुत रहती है, जैसा कि श्री आत्माख्याति में लिखा है देखो—

तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना
ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना।
सा तु समस्तापि संसारवीजं संसारवीजस्याष्टविधकर्मणोवीजत्वात्

इसी का स्पष्टीकरण तात्पर्यवृत्ति में है—

मदीयं कर्म मयाकृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन, ईहापूर्वं कमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचन-कायव्यापारकरणं यत् सा वन्धकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासम्भवं व्यक्ताव्यक्त स्वभा-वेनेहापूर्वक मिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुख-दुःखानुभवनं यत् सा वन्धकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते।

मतलव यही कि शुद्धात्मानुभूतिरूप शुक्लध्यानसमाधि से च्युत हो रहे हुये जीव की मन वचन काय की चेष्टा का नाम तो कर्मचेतना और वीतरागपन के सिवाय जरा सा भी इष्टानिष्टविकल्प को लिये हुये हर्ष विषाद को प्राप्त होना कर्मचेतना कहलाती है। यानी वीतरागपन का नाम ज्ञानचेतना और सरागपन का नाम अज्ञानचेतना है जैसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य की पञ्चास्तिकाय नाम ग्रन्थ की निम्न गाथा में लिखा हुवा है—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकायातसाहिकज्जुदं।
पाणित्तमदिक्कन्ताणाणं विदन्तिते जीवा॥ ३६॥

अर्थात्— स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में तो सभी के कर्म-फलचेतना हुवा करती है परन्तु जो जीव प्राणिपने को यानी

जन्म मरण के कारणभूत रागद्वेष को पार करके वीतरागता को प्राप्त कर लेते है वे जीव ज्ञानचेतनावाले होते हैं। इस पर फिर शङ्का होती है—

अज्ञाननाशं प्रवदन्ति सन्तोदृङ्मोहनाशक्षण एव जन्तोः
अज्ञाननाम्नी ननु चेतनेति कुतोऽप्रमत्तादिगुणेऽभ्युदेति ८५

अर्थात्— कि जब दर्शनमोह का अभाव होता है तो उसी समय इस प्राणी के अज्ञान का यानी मिथ्याज्ञान का भी अभाव नियम से होजाया करता है इस विषय में सब सज्जनों का जहां एकमत है तो फिर उसका तो अभाव चतुर्थगुणस्थान में ही होलेता है फिर अप्रमत्तादि गुणस्थानों में अज्ञानचेतना बताई जाती है, वह कैसी ? इस बात का जबाब—

तदुत्तरं तावदलीकबोधःप्रणाशमयाति न किन्त्वबोधः।
अलीकबोधो हि कुदृष्टिधामारागादिमानेवमबोधनामा ८६

अर्थात्— यह कि चतुर्थगुणस्थान में मिथ्याज्ञान का अभाव तो होजाता है किन्तु अज्ञान का अभाव नही होता। मिथ्यादृष्टि की अवस्था में समझरहा था कि जो शरीर है सो ही मैं हूं इस प्रकार मोह की वजह से शरीर और आत्मा को एकमेक जानता था सो व्यर्थविचार तो सम्यग्दृष्टि होते ही दूर होजाता है, परन्तु मार्गगामी पथिक भी दूसरे पथिक को अपना साथी मान कर उसके साथमें प्रेम दिखलाया करता है। वैसे ही यह फिर भी अपने शरीर को इस जन्म का साथी

मानकर किञ्चित् राग किये हुये रहता है, यह जो अज्ञान है वह सर्वथा दूर नहीं हो पाता तब तक ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है । देखो हमारे आगम ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान के वर्णन में बतलाया गया है कि जो ज्ञान, संशय विपर्यय और अनवध्यवसाय से रहित हो वही सम्यग्ज्ञान होता है। अब अगर एक सम्यग्दृष्टि जीव अन्धकार वगैरह के कारण से जेवडी को सर्पज्ञान रहा है तो उस समय जानने की अपेक्षा से तो विपर्यय होने से उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान हुवा फिर भी वह सम्यग्दर्शन के साथ में है इस लिये सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । बस तो वैसे ही चतुर्थगुणस्थान वाले का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होता है मगर वह रागभाव को लिये हुवे होता है, अतः चेतना की अपेक्षा से वह अज्ञानचेतनारूप होता है। सारांश यह है कि चतुर्थगुणस्थान में श्रद्धान ठीक होते ही ज्ञान का भी मिथ्यापना तो हट जाता है फिर भी उसमें स्थिरपना नही आपाता जैसे कि कुव्रत न होकर भी वहा पर अव्रतदशा होती है ऐसा नीचे के छन्द में बताते हैं—

कुवृत्तभावोऽपसरेदवृत्त-भावो न तूर्यस्थल एव हृत्तः
अज्ञानभाव' प्रतिवर्तमानः कुज्ञाननाशोऽपि भवेत्तथा नः ॥८७

अर्थात्— हमारे आचार्यों ने बतलाया है कि अनादि काल से इस संसारी आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ये तीनों मिथ्या हो रहे हैं बिगड़े हुये हैं सो चतुर्थगुणस्थान मे आकर जब इसका श्रद्धान ठीक होता है, मिथ्यापन से सही

पन पर आता है तो इसके ज्ञान और चारित्र में भी मिथ्यापन नहीं रहता । दुःश्रद्धा के साथ साथ कुत्सित विचार और कुचेष्टा भी विदा होजाते हैं । इस तरह यद्यपि उसके हृदय पर से दुर्वृत्तपन तो दूर होजाता है मगर अवृत्तपन तो फिर भी बना ही रहता है। वह दूसरे की बहू बेटी पर बुरी निगाह नहीं डालता, चोरी चुगलखोरी नही करता, किन्तु अपनी औरत के साथ यथेष्ट रतिचेष्टा करता है अपने घरूखाने को इच्छानुसार खाकर प्रसन्न रहता है । न्यायोचित विषय भोगों को भोगने की बाबत उसके चित्तपर कोई नियन्त्रण नहीं होता है और इसी लिये हमारे आचार्यों ने उसे स्पष्टरूप से अव्रत-सम्यग्दृष्टि बतलाया है। बस तो जिस प्रकार उसका दुर्वृत्त नष्ट होकर अव्रतपन बना रहता है, वैसे ही कुज्ञान-खोटा विचार दूर होकर भी अज्ञान बना रहता है-विचार की चपलता दूर नहीं होपाती, अतः ज्ञानचेतना नहीं होती क्यो कि विचार की स्थिरता का एकाग्रज्ञानोपयोग का, आत्माधीन ज्ञानभाव का नाम ही ज्ञानचेतना है ।

शङ्का— खैर चतुर्थादिगुणस्थान मे तो न सही किन्तु सप्तमादिगुणस्थान मे जब कि अप्रमत्तअवस्था होती है वहां तो ज्ञानचेतना कहनी चाहिये कि नहीं ? क्यां कि वहां तो निर्विकल्प अपनी आत्मा के ध्यान के सिवाय और कोई बात सम्भव ही नहीं है जहां पर कि इस जीव की वृत्ति, विकथावो से यानी पर की बातों से इन्द्रियाधीनता से क्रोधादि कपायो

पर से और दूसरे किसी के साथ अपशोश दिखानेरूप प्रणय से भी दूर हटकर पूर्णजागृतरूप हुवा करती है। श्री सिद्धपरमेष्ठी जी का स्मरण करना भी सेव्यसेवकभाव के कारण राजकथा में परिगणित हो रहता है फिर वहां आत्मस्मृति के सिवाय बाकी ही क्या रहजाता है ? सो इस शङ्का का जवाब भी नीचे दिया जारहा है—

ज्ञानं भवेदात्मनि चाप्रमत्त–जनस्यबाह्यातिशयान्महत्तः
दूरस्य सम्पश्य पुनः सुदक्तत्तु पातिगंतण्डुलमत्ररक्तं । ८५।

अर्थात्— हे समझदार भाई सुनो तुम्हारा कहना ठीक है, जहां सच्ची अप्रमत्तावस्था होती है वहा पराये विचार से तो कोई सरोकार नही रहजाता है, परपदार्थों के प्रति होनेवाली इष्टानिष्ट कल्पना तो लुप्त प्राय होलेती है मगर उसके विचार में उसकी खुद की आत्मा ही रागद्वेषयुक्त होती है, जैसे कि धान्य को उखलकर उसमें से चावल निकाले गये, उनके उपर होनेवाले तुषांको अलहदा करदियागया यों उसे खूटकर फटकने से सफेद सफेद चावल निकल आते है, अब अगर उनमे से कोई चावल जिसके कि उपर का छिलका दूर होकर भी उसपर रहनेवाली उसकी लाली दूर नहीं हटपाई तो उसको हम लाल-चावल समझते या कहा करते हैं कि और सब चावल तो सफेद हैं मगर यह चावल लाल है। बस इसी प्रकार उसके अनुभव में उसकी खुद्की आत्मा रागरञ्जित आया करती है,

यानी उसकी खुद्की आत्माके प्रति उसका उपादेयभाव रहता है ताकि वह अपने अन्दर रहनेवाले रागांशको दूर हटाने का प्रयत्न जारी रखता है, एवं कर्मचेतनारूप होता है । अगर होते हुये राग को भी न जानकर या न मानकर अपने आपको शुद्ध ही जानने लगे तो फिर राग को दबाने या न होनेदेने की चेप्टा ही क्यो करे और तब फिर रागी का रागी ही बना रहे । किन्तु "राग नहीं निजभावसही यह सिद्धसमान सदा पदमेरो" । इस वाक्यके अनुसार स्वभावापेक्षया अपने आपको सिद्धसमान मानते हुये भी वर्तमान अपनेरूप को रागराञ्जित अनुभव मे लाता है इस लिये वह—

जिन परमपैनी सुविधिछैनी डारि अन्तर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादि ते निजभावकों न्याराकिया ॥
निजमाहि निजकेहेतु निजकर आपको आयेगह्यो ।
गुणगुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयमभ्फारकुछ भेद न रह्यो ॥

इस छन्द के अनुसार अपनी वुद्धि को सुचारु और दृढ बनाते हुये अपूर्वकरणादिरूप प्रयत्न द्वारा रागांश को दूर हटा कर अपने उपयोग को निर्मल बनाने में लगरहता है सो ही वताते हैं—

सुसमाधि–कुठारेण छिद्यमानस्तरुर्यथा
छिन्न एव नहीत्येष रागभागोऽष्टमादिषु ॥८६॥

अर्थात्— जब कुल्हाड़े के द्वारा किसी गाछ को काटा

जाता है तो उसी समय वह कट तो नहीं जाया करता, मगर धीरे धीरे कट रहा हुवा होता है, वैसे ही एक महर्षि की आत्मा में जो प्रशस्तराग होता है वह शुक्लध्यानरूप समाधिद्वारा अष्टमादिगुणस्थानों में क्रमशः क्षीण होता रहता है।

समाधिनिरतत्वेन तत्वेनर्मधरः पुमान्
वीतराग इवाभातिवालिशानां विचारतः ॥८७॥

अर्थात्— हां यह बात जरूर है कि वह उत्तम सहनन का धारक महापुरुष उस समय समाधि में तत्पर हो रहने की वजह से शुद्धात्मपने को प्राप्त करने के बारे में उत्साह का धारक होता है, अपने उत्तरकाल में नियम से शुद्ध वीतराग हो रहनेवाला होता है, अतः स्थूलविचारवाले हम तुम सरीखों के विचार में वह ठीक वीतराग सरीखा ही प्रतीत होता है किन्तु उसके रागांश को जाननेवाले तो दीव्यज्ञानी महर्षिलोग ही होते हैं। जो हमें बताते हैं कि—

पुलाको वकुशः किंवा षष्ठे सप्तमकेऽपियः
कुशीलतामनुप्राप्तः स पुमानष्टमादिषु ॥८८॥

अर्थात्—मुमुक्षुसाधु पुलाक, वकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक के भेद से पांच प्रकार का होता है जिसके कि गुण मूल गुण और उत्तरगुण के भेद से दो तरह के होते हैं, मूलगुण खासगुणों का नाम है जिनके कि विना वह हो ही न सके और उत्तरगुण उन्हें कहा जाता है जिनके कि विकशित होने से वह

उन्नति को प्राप्त होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर पासके। पञ्चमहाव्रत, पांच समितियां, पञ्चेन्द्रियवशीकरण, षडावश्यक और सात शेष गुण यों अठाईस प्रकारके तो मूलगुण होते है। बारह तप और बाईस परिषहकाजीतना यों चोतीस उत्तरगुण हैं जिनके कि भेद, प्रभेद करने से चोरासीलाख होजाते है। इनमें से मूलगुणो को धारण करके मनुष्य साधु बनता है तो आनुषङ्गिकरूप मे उत्तरगुण भी आ ही जाया करते है, उनके भी बिलकुल ही न होने पर तो साधु रह ही नहीं सकता, परन्तु उनके पालन करने का वह अधिकारी बन कर नहीं रहता, जैसे कि अधिक शीतपड़ने पर उसे न सहसकने के कारण कांपने भी लगता है। हां कितना ही शीत क्यों न सतावे फिर भी वह कपड़ा कभी नहीं पहनता क्यों कि कपड़ा पहनलेने मे वह अपने पनमें बट्टा समझता है। कपड़े न पहनना, नगा रहना यह उसका प्रधान गुण है अतः कपड़े पहनने का तो वह विचार भी नही करता। अगर कोई भोला जीव उसे कांपता देख कर दयालुपने से उसके उपर मे कपड़ा डाल भी देता है तो उसे वह उपसर्ग समझता है। यह कभी नहीं मानता कि इसने अच्छा किया ताकि मुझे कपड़ा उढादिया ऐसा। फिर भी जिसके किसी मूलगुण में कोई आंशिकदोष आजाया करता हो ऐसे साधु का नाम पुलाकसाधु होता है। और जो उत्तर-गुणों के भी पालन करने का सङ्कल्प लिये हुये हो, उन्हे निर्वाह करना अपना कर्तव्य समझता हो फिर भी उनमें अच्छीतरह से

सफल नहीं हो सक रहा हो वह वकुशमुनि होता है। यह दोनों मुनि छटे और सातवें गुणस्थान मे होते हैं। इसके उपर अष्टमादि-श्रेणिमध्यगुणस्थानों में कुशीलमुनि होता है यद्यपि यह प्रमादरहित होते हुये कर्तव्यपरायण हो रहा होता है, फिर भी इसके परिणामों मे कपायों की वजह से गदलापन बनाहुवा होता है। शरत्कालीन जल की भांति इसके परिणाम निर्मल न होकर वर्षाकालीन जल की भांति होते हैं। मतलब यह कि यह जीव कृतकार्य नही किन्तु अभी तक कर्तव्यसन्निविष्ट ही है जैसा कि नीचे दिखलाते हैं—

शाखिनिप्रवहन्नन्ते कुठारः केवलं करे
योग आत्मनि सम्पन्नो दशमाद्गुणतः परं ॥८६॥

अर्थात्—इस प्रकार करते हुये होकर जब दशवेंगुणस्थान से उपर पहुंच जाता है तभी वह आत्मा का योग जो कि कपायों को नष्ट करने के लिये किया जाता है सम्पन्न हुवा कहलाता है जैसे किसी पेड को काटने के लिये उस पर बहने वाला कुठार उसे काटते काटते अन्तमे उसे बिलकुल काट चुकने पर वह तक्षक के हाथ में निश्चल हो रहता है और उस समय-उससे जो आश्वासन मिलता है बस वही दशा इस आत्मा की भी दशवें गुणस्थान के उपर हो पाती है यानी इसको अपने आपमें विश्राम प्राप्त होता है।

निर्ग्रन्थपदवाच्यत्वमपि स्पष्टतयामुनेः
उपयोगस्तथाशुद्धः स तत्रैवास्तु वस्तुतः। ६०॥

अर्थात्— भावनिक्षेप की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ कहलाने की पात्रता मुनिराज को वहीं पर जाकर प्राप्त हो पाती है क्यो कि ग्रंथ नाम परिग्रह का है और अन्तरंग परिग्रह मे जिस प्रकार मिथ्यात्व को बताया गया है उसी प्रकार से चारित्रमोह की सभी कषायों को भी परिग्रह माना है एवं निर्ग्रन्थपन के लिये उन सभी कषायों के अभाव की जरूरत हो जाती है जो कि वहीं जाकरके पूरी होती है अतः शुद्धोपयोग भी वास्तविक रूप में वहीं जाकर होता है।

स्वरूपा चरणं भेद–विज्ञानं ज्ञानचेतना
शुद्धोपयोगनामानि कथितानि जिनागमें। ६१॥

अर्थात्— शुद्धोपयोग का नाम ही ज्ञानचेतना, भेद-विज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र है जिसमें कि आत्मा पर पदार्थों से विमुख होकर अपने आप का अनुभव करने लगती है और इसका नाम शुक्लध्यान भी है जैसा कि पं० दौलतराम जी ने अपने छहढाले में लिखा है देखो—

यो है सकल सयम चरित सुनिये स्वरूपा चरण अब।
जिस होत प्रगटे आपनी निधि मिटे पर की प्रवृति सब ॥७॥

यों कह कर उन्होंने इसके आगे उसी शुक्लध्यान का वर्णन किया है जिसके कि सुललितसमागम से घातिया कर्मोका

अभाव होकर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है और यह पं० दौलतराम जी का लिखना है भी ठीक क्यों कि—"स्वरूपे आसमन्ताच्चरणं" यानी अपने आपमें पूरी तोर से लीन हो रहना ऐसा ही स्वरूपाचरण का मतलब होता है जैसा कि श्री प्रवचनसार जी के गाथा नं० ७ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य जी ने भी लिखा है कि— स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा इसी को भेदविज्ञान भी कहते हैं जैसा कि श्री अमृतचन्द्र स्वामी जी ही इस अपने समयसार-कलश में लिखते हैं—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो

रन्तर्दारुणदारणेन परितोज्ञानस्य रागस्य च।

भेदज्ञानमुदेतिनिर्मलमिदंमोदध्वमध्यासिताः

शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तोद्वितीयच्युताः ॥१२१॥

इसमें बतलाया है कि ज्ञान का लक्षण जानना है और पर द्रव्यानुयायीपन, राग का लक्षण है। इस प्रकार दोनों के लक्षण को ध्यान में लेकर अपने विचार के द्वारा अपनी अन्तरात्मा के पूरीतोर से भिन्न भिन्न दो भाग करके ज्ञान को राग से पृथक् कर लेने पर भेदज्ञान प्राप्त होता है जो कि बिलकुल निर्मल होता है। सो यह वही बात है जिसको कि पं० दौलतराम जी ने अपने छहढाले में—

जिन परमपैनीसुबुधिछैनीडारि अन्तर भेदिया।
वर्णादि अरुरागादितें निजभाव को न्यारा किया॥

निजमाहि निज के हेतु निजकरि आपको आपेगह्यो।
गुण गुणीज्ञाता ज्ञानज्ञेय मझार कुछ भेद न रह्यो ॥

इन शब्दों मे दोहराया है और जो कि साक्षात शुक्लध्यान का रूप है जो कि वीतराग सम्यग्दृष्टि अवस्था में होता है। सराग सम्यग्दृष्टि अवस्था मे तो राग को और ज्ञान को भिन्न भिन्न मानता मात्र है, भिन्न भिन्न कर नहीं पता है जैसा कि आचार्य श्री लिख रहे हैं। एवं ज्ञानचेतना तो निर्विकल्परूप से ज्ञान की स्थिरता का नाम है जैसा कि पहले बताया ही जा चुका है, अतः ये सब एक शुद्धोपयोगके ही या शुक्लध्यान के ही नाम हैं। भेद है तो सिर्फ इतना ही कि शुद्धोपयोग शब्द तो आत्मा को मुख्य करके कहा जाता है। भेदविज्ञान शब्द के कहने में सम्यग्दर्शनगुण का लक्ष्य होता है। ज्ञान गुण की मुख्यता से ज्ञानचेतना कहा जाता है। और स्वरूपाचरण शब्द चरित्रगुण की प्रधानता से कहा गया हुवा है।

शंका-शुक्लध्यान तो सातवेगुणस्थान से भी ऊपर आठवें गुण स्थान से सुरू होता है किन्तु स्वरूपाचरण तो चोथेगुणस्थान वाले अव्रत सम्यग्दृष्टि के ही होजाता है क्योंकि स्वरूपाचरण का घातकरने वाली तो अनन्तानुबन्धिकषाय है जिसका कि उसके अभाव होता है।

उत्तर— भैय्या जी अनन्तानुबन्धिकषाय का काम तो अन्याय और अभक्ष्यादि में प्रवृत्ति करवाना एवं गुरु संस्था को न मान कर मनमानी करने में मस्त रखना है जैसा कि मिथ्यात्व का

काम, शरीर से भिन्न आत्मा को कोई भी चीज न मानने देने का है। और इन दोनोंका अभाव अव्रत सम्यग्दृष्टि के हो लेता है इस लिये वह आत्मा को शरीर से भिन्न नित्यान्वयी ज्ञानमय, मान कर पुनर्जन्म नरक स्वर्गादिपर विश्वास करता है एवं गुरुवों का हृदय से विनय करने लगता है तथा पाप कर्मों से हर समय भीत रहता है। स्वरूपाचरण तो उस आत्मानुभव का नाम है जो कि सञ्ज्वलनकषाय के भी न होने पर होता है। अनन्तानुबन्ध्यादि प्रत्याख्यानावरणपर्यन्तकषाये न होने से सकल चारित्र होजाने पर भी जब तक संज्वलनकषाय का उदय होता है तो वह इस जीव को आत्मानुभव पर जमने नहीं देता। हां जब संज्वलनकषाय का भी तीव्र उदय न होकर वह मन्द होता है तो यह जीव आत्मानुभवपर लगने की चेष्टा करता है यानी अपने पौरुष से उसे भी दबा कर या नष्ट करके अपने आप में लीन होलेता है उसीको आत्मानुभव या आत्मा-भूति कहते हैं। यही स्वपाचरणचारित्र है।

शङ्का— तो फिर क्या चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को आत्मानुभूति नहीं होती ? तो फिर सम्यक्त्व कैसा हुवा और मिथ्यात्व क्या गया ?

उत्तर— चतुर्थगुणस्थानवाले को आत्मानुभूति तो नहीं मगर आत्मतत्व का विश्वास जरूर होलेता है जो कि मिथ्यात्व अवस्था मे कभी नहीं हो पाता। जैसे मानलो कि एक आदमी के तीन लड़के हैं जिन्होंने नमक की कङ्करी को उठा कर खाया

और वह खारी लगी। फिर जब उन्हे मिश्री के टुकरे खाने को दिये गये तो उन्हे भी उस नमक सरीखे खारी मानकर नमक ही मान कर दूर फेंक देते है । पिता कहता है कि यह नमक नही किन्तु मिश्री है, एवं खारी नहीं लेकिन मिठी है, फिर भी नहीं मानते अबजब मक्खियां आती हैं तो वे मिश्री पर भिन्नाने लगती हैं और नमक पर नहीं, तब पिता फिर समझाता है कि देखो हलवाई की दुकान में मिठाई पर मक्खियां भिन्नाया करती हैं बनिये की नमक की ढेरी पर नहीं, वैसे ही ये सब कङ्करियां तो नमक की हैं खारी है जिन पर मक्खियां नहीं बैठती मगर ये सब टुकरे मिश्री के हैं जिन पर मक्खियां आरही हैं। तो एक लड़के ने तो फिर भी नहीं माना और बोला कि नही ये समस्त कङ्करियां एकसी ही तो है, सभी खारी हैं, इनमें कोई मिश्री और कोई नमक ऐसा भेद नहीं है। बाकी के दो लड़के कुछ विचारशील थे उनके मनमें बात जम गई कि हां ये, जिनके अन्दर जरा पिलकाई है, जिन पर मक्खियां बैठती हैं, सो सब कङ्करियां इन सपेद कंकरियों से जरूर न्यारी है और मिठी हैं, ये सब मिश्री की हैं। पिता जी का कहना बिल-कुल ठीक है, चलो मुह धोकर आवें तो इन को खावेंगे, इतने में ही उन दोनों में एक लड़का झट मुंह धोकर आकर उन मिश्री की कंकरियों में से एक को उठा कर चखता है तो कहता है कि अहा सचमुच मिश्री हे, मीठी है। बस तो इसी प्रकार से शुक्लध्यानी का अनुभव आत्मा के बारे में होता है; परन्तु इस

से पूर्ववर्ती अव्रतसम्यग्दृष्ट्यादिक को तो आत्मविश्वासमात्र होता है, जैसा कि मिश्री को नहीं चख कर भी पिता की बात पर जमरहने वाले लड़के को मिश्री का विश्वास।

शंका— गृहस्थ होते हुए भी जो आदमी एकाग्र निश्चल होकर ऐसा विचार कर रहा हो कि मेरी आत्मा अथवा मैं शुद्धबुद्ध सच्चिदानन्द हूँ मेरे अन्दर राग, रोष वगैरह बिलकुल भी नहीं हैं इत्यादि। उस समय तो उसके आत्मानुभव है कि नहीं ?

उत्तर—वह आदमी तो उस भिखारी सरीखा निरा पागल है जो कि जन्मदरिद्र होते हुये भी अपने आपको चक्रवर्ती मान रहा हो। इससे तो वह मिथ्यादृष्टि भी कुछ अच्छा है जो कि अपने आपको दुःखी अनुभव करता है, अतः यह दुख मुझे क्यों हो रहा है और यह कैसे नष्ट होसकता है ऐसा शोच रहा हो।

हां जो तत्वश्रद्धानी जब कभी गृहस्थोचित और बातों की तरफ से अपने मन को मोड़ कर एकाग्रभाव से ऐसा विचार कर रहा हो कि मेरी आत्मा अथवा मैं भी तो स्वभाव की अपेक्षा से सिद्धों के समान ही विकार रहित हूँ। विकार जो है वह तो मेरी वर्तमान अवस्थामात्र है जो कि कर्मों के संयोग को लेकर वाह्यपदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना करने से हो रहा है इत्यादि तो यह उसका विचार सद्विचार होता है, धर्मभावनारूप है और मन्दलेश्या के होने से होनेवाला है।

सो यह सद्भावनारूप विचार उस स्वरूपाचरण के लिये कारण-रूप मानागया हुवा है क्यो कि इस विचार को हृदय में स्थान देनेवालाजीव थोड़ी बहुत देर के बाद बाह्यबातो से दूर हटकर के सिर्फ अपनी आत्मा को ही याद करने लगता है एवं उसमे तन्मय होकर उस अनुभव के द्वारा इष्टानिष्ट विकल्प से रहित होता हुवा सिर्फ ज्ञानदर्शनस्वभावमय बन सकता है जैसा कि समयसार जी की निम्न गाथा मे लिखा हुवा है—

अहमिक्को खलु सुद्धोणिम्ममवोणाणदसण समग्गो ।
तह्मि ठिवो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७३॥

अर्थात्— खलु यानी निश्चय नय से अगर स्वभाव-दृष्टि से देखा जावे तो मैं सिर्फ परिपूर्णज्ञानदर्शनवाला हूँ शुद्ध हूँ मेरे में किसी भी दूसरी चीज का सम्मिश्रण बिलकुल भी नहीं है और जब मैं ऐसा हूं तो फिर व्यर्थ ही इन सब दूसरी चीजों से क्यों ममत्व करू अपने आपमे तन्मय होकर स्थित हो रहूं ताकि ये सब रागद्वेषादि आश्रवभाव नष्ट होजावे और मैं सच्चिदानन्द बन रहूँ । मतलब यह कि इस वीतराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय परिणमन का नाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है । सम्यक्त्व भी इसी अवस्था में निश्चय सम्यक्त्व होता है जैसा श्री रायचन्दकृत आत्मसिद्धि मे भी लिखा हुवा है देखो—

वर्ते निज स्वभाव का अनुभव लक्ष्य प्रतीत
वृत्ति वहे निजभाव में परमार्थे समकीत ॥२२२॥

किञ्च सम्पन्नस्वरूपाचरण का नाम ही यथाख्यात चरित्र भी है।
सो यह यथाख्यात चारित्र दो प्रकारका होता है यही नीचे बताते है–

विछिन्न आत्मभुविरागनगोविनेतुरन्तमु हूर्ततइयान् पुनरभ्युदेतु
सम्बुद्धयेनु परमात्मन एन तावद्दुन्मूल्यरागतरुमात्मकृतप्रभावः

अर्थात्– जैसे किसी भी पेड़ को नष्ट करना होता है तो पहले तो उसे कुल्हाड़े से काट कर गिरा दिया करते हैं और फिर जमीन मे से उसकी जड़ों को भी खोद निकाल फैकदे तो ठीक होता है, यदि सिर्फ काटने का ही कार्य किया जाय, जड़े ना निकाली जावें तो फिर वह फूट खड़ा होता है वैसे ही आत्मा में होने वाले रागभाव को दूर करने के लिये भी दो तरह की क्रिया होती है। कपायाश को दबाकर आत्मपरिणामों को निर्मल बना लिया जाता है, जैसे गदले पानी में फिटकड़ी वगेरह डाल कर के उसके कीचड़ को नीचे विठादिया तो पानी साफ होजाता है। इस क्रिया को उपशमश्रणी कहते है और इससे होनेवाली निर्मलता को उपशान्तमोहदशा कहते हैं, यह एक अन्तमुहूर्तमात्र रहती है। बाद मे फिर मोह का उदय हो आता है, अतः इसको प्रतिपाति, यथाख्यातचरित्र कहा जाता है। और जहां पर कपायांश को बिलकुल दूर कर दिया जाया करता है उसे क्षपकश्रेणि एवं उससे होने वाली आत्मशुद्धि को क्षीणमोह बोला जाता है। इसमें मोह को सदा के लिये विदा मिलजाती है अतः इसको अप्रतिपातियथाख्यातचरित्र कहते हैं।

यह भव्यत्वशक्ति के पूर्णपरिपाक का फल है इसके होजाने पर फिर पुनर्भवधारण नहीं करना पड़ता है, किन्तु इससे आगे क्या होता है सो बताते है –

पृथक्त्वायवितर्कस्तु यः श्रेणावात्मरागयोः
क्षीणमोहपदेतस्मा येकत्वायाश्रुनात्मनः । ६३ ॥

अनेन पुनरेतस्य घातिकर्मप्रणाशतः
आत्मनोऽस्तु च परमोपयोगो विश्ववस्तुवित् ॥६४॥

अर्थात्— वितर्क यानी आत्मा के द्वादशाङ्गरूप श्रुतज्ञान का व्यापार या यों कहो कि विचार की एकाग्रता श्रेणिकाल में और ग्यारहवें गुणस्थान में भी आत्मा और रागको भिन्न भिन्न करने के लिये प्रवृत्त होती है जिससे कि इस आत्मा के शेष-घातिकर्मों का–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का नाश हो कर इस आत्मा का उपयोग शुद्धोपयोगपन को उलांघकर परमोप-योग बन जाता है । जो उपयोग पहले क्षायापशमिक था, अतः जिधर लगाया जाता था उधर ही लगता था। और बात को न जानकर उसी को जानने लगता था। जब तक विषयों की तरफ झुका हुवा था तो विषयों को स्वीकार किये हुये राग-द्वेष में फंस रहा था परन्तु जब बाह्यविषयों की तरफ से हटकर रागद्वेपरहित होते हुये वही उपयोग एक अपनी आत्मा में ही तल्लीन होलिया तो यः आत्मवित् स सर्ववित् इस कहावत को चरितार्थ करते हुये विश्वभरकी तमाम वस्तुवों को एक साथ

जाननेवाला बन जाता है । जैसे वायु के द्वारा कल्लोलान्वित पानी में कुछ नही दिखाई देता मगर निर्वातस्तम्भित जल में तमाम आसमान की चीजे झलकने गलती हैं तथा जल की तली में होनेवाली चीजें भी दीख जाया करती है। अस्तु। इसकेबाद क्या होता है सो बताते हैं—

देहमतीतो भूत्वा चिदयं परमपारिणामिकभावमयः
नीरसवल्कलतोनिस्तृत इवैरण्डवीजवज्जगतिलसतिवै। ६५॥

अर्थात्— उपर्युक्त प्रकार से चार घातिया कर्मो का नाश करदेने पर इस आत्मा को क्षायिकभाव की पूर्णप्राप्ति होलेती है किन्तु नाम, गोत्र. वेदनीय और आयु, ये चार अघातिकर्म अवशिष्ट रहते हैं । जिनका कि अनुपक्रमरूप से यथा-समय नाश होने पर यह आत्मा शरीररहित होजाता है जैसे अरण्ड बीज के ऊपर होने वाला छिलका का आवरण सूक कर खुलजाता है तो वह खालिस बीज बन जाता है, वैसे ही यह आत्मा कार्मणशरीर के पूर्णरित्या दूर होजाने पर परमपारि-णामिकभाव का धारक स्पष्ट सच्चिदानन्द होजाया करता है उसी का नाम सिद्ध या मुक्त होता है जो कि होकर लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो रहता है । उस समय इसके औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिकभाव इन चार प्रकार के भावों के साथ साथ भव्यत्व का भी अभाव होकर सिर्फ शुद्धजीवत्वमात्र रह जाता है ।

शङ्का— क्षायिकभाव का भी अभाव होजाता है यह बात हमारी समझ में नहीं आई बल्कि क्षायिकभाव होने पर तो उसका फिर अनन्तकाल तक भी अभाव नहीं होता ऐसा कहा हुवा है। अन्यथा तो फिर क्षायिकज्ञानादि का अभाव होगया तो आत्मा में रह ही क्या जाता है ?

उत्तर— क्षायिकभाव न रहे तो कुछ भी आत्मा मे न हो यह बात तो बहुत ही मोटी है। संसारी जीव में क्षायिकभाव नहीं, मगर वहां औदयिकादिभाव यथासम्भव होते हैं। सभी सांसारिक जीवों में औदयिकभाव के साथ साथ क्षायोपशमिक एवं अशुद्धपरिणामिकभाव होता है। किसी भव्यजीव में उन तीनों के साथ औपशमिकभाव होता है तो किसी के क्षायिकभाव के साथ औदयिकादिकभाव तथा किसी के पांचो ही भाव होते हैं क्यों कि क्षायिक सम्यग्दृष्टिजीव जब उपशमश्रेणि में होता है ता वहां उसके चारित्र तो औपशमिक। सम्यक्त्व-क्षायिक। ज्ञान-क्षायोपशमिक। मनुष्यपणा औदयिक और सञ्जीविनीशक्ति या भव्यत्व, जो है वह अशुद्धपारिणामिक भाव होता है अरहन्तावस्था में ज्ञानादिक तो क्षायिकभाव, मनुष्यत्व और असिद्धत्व वगैरह औदयिकभाव एवं भव्यत्वभाव होता है। परन्तु जहां औदयिकभाव का सर्वथा अभाव हुवा वहां सिद्धदशा में औपशमिक, क्षायोपशमिक क्षायिक और अशुद्धपरिणामिक भी एवं उन पांचों का अभाव होकर सिर्फ शुद्धजीवत्वमात्र रहजाता है। चेतनता का नाम-देखने जानने रूपशक्ति

का नाम जीवत्वभाव है, वह शुद्ध और अशुद्ध, दो तरह का होता है। उसमें से अशुद्धजीवत्व यह भव्यत्व और अभव्यत्व रूप से दो भावों को लिये हुये रहता है सो अभव्यत्व तो अनाद्यनन्त ही होता है, मगर भव्यत्वभाव उस जीवकी संसार स्थितिमात्र रहता है। सिद्धअवस्थामें वह पलटकर शुद्धजीवत्व के रूपमें आजाता है। सिद्धत्वेन भवितुं योग्यो भव्यः जो सिद्धरूपमें परिणमन करने योग्य हो उसे भव्य कहते हैं। अब जो कि सिद्ध होचुका वह सिद्ध होने के योग्य है कहां ताकि उसे भव्य कहा जावे, वह तो सिद्ध होने योग्य था सो हो लिया बस तो भव्यत्व का भी अभाव होलिया। उसीके साथ इतर चारों भावों का भी अभाव होगया। हां अरहन्त अवस्था में जो क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान और क्षायिकदर्शन था, वह सिद्ध अवस्था में परमशुद्ध सम्यक्त्व, परमशुद्धज्ञान और परमशुद्धदर्शन होजाता है इसी का नाम तो शुद्धजीवत्वभाव है, जिसकी कि सिद्धता के साथ में व्याप्ति है, जैसा कि-अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शनसिद्धत्वेभ्यः, इस सूत्र में स्पष्ट होता है। क्षायिकसम्यक्त्वादि को जहां अनन्त बतलाया है उसका मतलब तो इतना ही है कि जो दर्शनमोह के क्षय से सम्यक्त्व होता है, वह दूर होकर वापिस मिथ्यात्वदशा कभी भी नहीं होती। इसका मतलब यह कभी नहीं लिया जासकता कि जो जैसा सम्यक्त्व असिद्धदशा में है वैसा ही सिद्धदशा में भी होता है। इस बात को समझने के लिये जीवत्वगुण को ही

लेलिया जावे। संसारावस्था में श्वासोच्छ्वासादिमज्जीवत्व होता है, तो सिद्धावस्था में तद्रहितजीवत्व हुवा करता है। जब जीवत्व मे ही भेद हुवा तो सम्यक्त्वादिक जो उसके विशेष है उनमें भेद होना अवश्यंभावी है। जैसे किसी रत्न को डिबिया मे बन्द किया हुवा होता है तो उसके साथ उसका तेज भी उस डिबिया में बन्द रहता है, रत्न को खुला करने पर ही उसका उद्योत खुला होसकता है। अस्तु। उपर्युक्त सिद्धपरमात्मा का स्वरूप निर्देश करते हुये अब निम्नवृत्त मे अन्तमङ्गलरूप से नमस्कार किया जाता है—

सम्यक्त्वस्यपृथुप्रतिमानं नित्यं निजदृग्ज्ञाननिधानं
अपिस्फुटीकृतविश्वविधानं नौमितमां कृतकृत्यानिदानं। ६६

अर्थात्—जो ठीक सचाई की मूर्ति बने हुये हैं, निरन्तर अपने आपको तो देखने जाननेवाले हैं ही फिर भी दुनियांभर की बातों को देखते जानते हैं, किन्तु करने योग्य कार्यों को करचुके हुये हैं, ऐसे परमेष्ठि को हमारा वारम्बार नमस्कार हो। मतलब यह कि स्वपर प्रकाशकपन आत्मा का असाधारणगुण है, वह इतर पुद्गलादि में न होकर हर आत्मा मे सामान्यतया विद्यमान है। परन्तु संसारस्थ अवस्था मे यह आत्मा अपने आपको न देखकर खुद को भुलाकर औरों की तरफ देखा करता है ताकि संकल्प विकल्प में पड़कर इसका उपयोग क्रमिक बना हुवा रहता है। ज्ञानीपन की अवस्था में और तरफ से हटकर

अपने आपको जानने लगता है तो फिर चञ्चलता चपलता से रहित होकर स्थिर बन जाता है, एवं और सब चीजों को एक साथ देखते जानते हुये भी स्पष्टरूप से अपने आपको देखने जानने वाला हो रहता है। जैसा कि पं० दौलतराम जी ने अपनी स्तुति के शुरू मे इस दोहे में कहा है—

सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवन्तनित अरिरजरहसविहीन ॥१॥

दर्पण में जिस प्रकार हरपदार्थ का प्रतिविम्ब पड़ता है फिर भी दर्पण अपने स्थान पर होता है और पदार्थ अपनी जगह पर। न तो पदार्थ ही दर्पण मे घुसजाया करता है और न दर्पण ही अपनेपन को त्याग कर उस पदार्थरूप ही होजाया करता है। वैसे ही परमात्मा के ज्ञान मे हरेक पदार्थ झलकता है, फिर भी पदार्थ अपनी जगह अपने आपकेरूप में होता है और आत्मा का ज्ञान आत्मा मे। न तो ज्ञान का कोई एक भी अंश ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय का कोई भी अंश ज्ञानरूप। जैसा कि—

तज्जयतु परं ज्योतिःसमं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला: प्रतिफलतिपदार्थमालिकायत्र ॥२॥

इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के मङ्गलाचरण मे लिखा है।

हां कुछ लोगों की धारणा है कि ज्ञेयाकार होना ज्ञान का दोष है जो कि अपूर्णअवस्था में हुवा करता है। पूर्णब्रह्म परमात्मदशा मे तो वह निराकार ही होता है क्यों कि सम्पूर्ण-

पदार्थों को जब एक साथ जानता है तो किस किस के आकार होगा। परन्तु ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिये कि पदार्थ को पदार्थ के रूप में जानना ही तो ज्ञान का पदार्थाकार में होना है, अगर सर्वज्ञ अवस्था में ज्ञान ज्ञेयाकार नही होता तो फिर इसका तो अर्थ यह हुवा कि वह ज्ञेय को जानता ही नहीं है।

शङ्का— ठीक तो है इसी लिये तो हमारे आचार्यों ने बतलाया है कि निश्चयनय से तो ज्ञान सिर्फ अपनी आत्मा को जानता है. पर पदार्थों को जाननेवाला तो व्यवहार मात्र से होता है। और व्यवहारका अर्थ-झूटा होता है।

उत्तर— भैय्या जी जो पर को नहीं जानता वह अपने आप को भी नहीं जानसकता है, क्यों कि मैं चेतन हूँ जड़ नहीं हूँ, इस प्रकार अपना विधान परप्रतिषेधपूर्वक ही हुवा करता है। ज्ञान का स्वभाव जानना है, वह अपने आपको जानता है तो पर को भी जानता है। अपने आपको आपके रूपमें अभिन्नता से ज्ञातृतया वा ज्ञानतया जानता है और परपदार्थों को परके रूपमे अपने से भिन्न अर्थात् ज्ञेयरूप जानता है। भिन्नरूप जानने का नाम ही व्यहाहर एवं अभिन्नरूप जानने का नाम ही निश्चय है। किन्तु जानना दोनों ही बातों में समान है जो कि ज्ञान का धर्म है.और वह सर्वज्ञ में पूर्णतया प्रस्फुट हो रहता है, उसी की प्राप्ति के लिये ही यह सारा प्रयास है। वह सर्वज्ञता वीतरागता से प्राप्त होती है, वीतरागता का जनक

सम्यक्त्व है, उसका विरोधी मिथ्यात्व अस्मदादि संसारी लोगों में विद्यमान है उसे दूर करके सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार उपसंहार करते हुये अब ग्रन्थ समाप्त कियाजाता है—

आत्मीयं सुख मन्यजातमिति या वृत्तिः परत्रात्मन।
स्तन्मिथ्यात्वमकप्रदं निगदितं मुञ्चेदिदानीं जनः॥
आत्मन्येव सुखं ममेत्यनुवदन्बाह्यान्निवृत्तो यदा।
त्मन्यात्माविलगत्यहो विजयतां सम्यत्व मेतत्सदा ॥१००॥

अर्थात्— हरेक शरीरधारी सुख की खोज में है, वह चाहता है कि मुझे सुख प्राप्त हो, दुःख कभी न हो, मैं सदा सुखी बना रहूँ, परन्तु कैसे बनूं यही भावना इस के मन में निरन्तर बनी रहती है क्यों कि इसे यह पता नहीं है कि सुख तो मेरी आत्मा का अपना गुण है, वह मेरा मेरे पास है। यह तो समझता है कि सुख कहीं बाहरी चीजों में खाने-पीने और कोमल पलङ्ग पर लेटलगाने वगैरह में है। इस लिये इस का लगाव उन्हीं के पीछे हो रहा है। जैसे हरिण अपनी नाभि की सुगन्ध को बाहर की सुगन्ध समझ कर उसके ढूंढने में इधर से उधर भटकता फिरता है, वैसे ही यह संसारी जीव भी बाह्य विषयों में सुख मान कर उनमें झम्पापात लेता है उन्हीं के पीछे लगा रहता है, बस यही इसकी भूल है, मिथ्यात्व है, उलटापन है जो कि इसे दुःख देनेवाला है। अत. आत्महितैषी

जीवको चाहिये कि अपने इस मिथ्यात्वको दूर करे। मिथ्यात्व होजाना ही सम्यक्त्व है जो कि सुख देने वाला है, आनन्दस्वरूप है। सो जब यह जीवात्मा अपनी उस चिरन्तन भूल को सुधार कर ऐसा मानने लगजाता है कि सुख तो मेरे आत्मा का ही सहज स्वभाव है वह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहां हो सकता है तो फिर व्यर्थ की इन बाहिरी बातों से दूर होता हुवा स्पष्टरूप से आत्मतल्लीन यानी अपने आपमें आत्म-मात्रहो रहता है, उसीका नाम वास्तविक सम्यक्त्व है। मतलब यह कि बिगड़ी हुई हालत का नाम मिथ्यात्व और सुधरी हुई सहज स्वभाविक शुद्धावस्था का नाम सम्यक्त्व है सो यह सम्यक्त्वदेवता सदा जयवन्तर हो। अब अन्तमें अपनी मनोभावना क्या है सो प्रकट करते है—

—:*****—

भूयाज्जिनशासनं प्रभावि ··राष्टे येन जनस्य विचारः
मञ्जुतमाचारेण च वाचि। ललितत्वेन समस्तु संयुतः॥

अर्थात्— देश भरमें श्री जिन भगवान का शासन फैले सबलोग उसके माननेवाले बनें ताकि हरेक आदमी का विचार सदाचार सहित होते हुये भले व्यवहारयुक्त हो यही मेरी सद्भावना है।

महस्त्रद्वितयात् सूर्य-संख्याके विक्रमाब्दके

भव्यजीवप्रबोधाय बोधाय च निजात्मनः ।·१०२॥

वर्षायोगे हिसारस्य श्री समाजानुरोधतः

भूरामलेन रचितः सम्यक्त्व-सारदीपकः । १०३॥

यह "सम्यक्त्वसार दीपक या शतक" नाम का ग्रन्थ श्री वीर विक्रमादित्य सम्वत् २०१२ की शाल में चतुर्मास के समय मे दिगम्बर जैन समाज हिसार की प्रेरणा से सभी भव्य जीवों के कल्याण के लिये एवं अपने आपके भले के लिये भी भूरामल ने बनाया है।

छप्पय—

मङ्गलमयअरहन्त सन्त सब को सुखदाई।
मङ्गल सिद्ध महन्त निजात्मज्योति सुहाई॥
आचार्योपाध्याय साधु समरसके भर्ता।
सब जीवों के लिये सहज मङ्गल के कर्ता॥
जिनवर भाषित धर्म भी जीवनका आधार हो।
जिसके मृदु अभ्यास से दिल के दूर विकार हो॥

❀ शुभंभूयात् - ❀

❋ मेरी भावना ❋

—:(०):—

भावना दिन रात मेरी सब सुखी संसार हो ।
सत्य संयम शील का, व्यवहार घर घर-बार हो ।
धर्म का प्रचार हो, और देश का उद्धार हो ।
पाप का परित्याग हो, और पुण्यका संचार हो ।
रोशनी से ज्ञान का, संसार में परकाश हो ।
धर्म के प्रभाव से, हिंसा का सर्वनाश हो ।
शान्ति अरु आनन्दका, हरएक घरमें वास हो ।
वीर-वाणी पर सभी संसार का विश्वास हो ।
रोग अरु भय शोक होवें दूर सब परमात्मा ।
कर सकें कल्याण ज्योंति, सब जगतकी आत्मा ।

—:(०):—

श्री अस. आर. जोहर के प्रबन्ध से नवजीवन प्रेस
नागोरी गेट, हिसार में मुद्रित ।

महावीर-वाणी

प्रस्तावना लेखक

डॉ० भगवान्‌दास

संपादक

बेचरदास दोशी

मानवता में ही पूर्णता निहित है
प्रेम त्याग
H B N
सेवा
मानव सेवा संघ

सर्वोदय साहित्य माला
१०६वाँ ग्रंथ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखाएँ

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

जनवरी १९४२, २०००

मूल्य

अजिल्द एक रुपया

सजिल्द डेढ़ रुपया

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

मुद्रक

जे० के० शर्म्मा

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस

इलाहाबाद

समर्पण

पुण्यचेता श्री पुण्यविजयजी मुनि

तथा

पुण्यचेता उपाध्याय श्री अमरचंदजी मुनि
की विद्याचरण-संपत्ति को प्रस्तुत संपादनफल
सादर समर्पण करता हूँ।

बेचरदास

संपादकीय

'महावीर-वाणी' के इस रूप में आने की एक लम्बी कहानी है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि एक ऐसे छोटे से ग्रन्थ के संकलन का आयोजन होना चाहिए जो जैनधर्म के प्रमुख अंगादि शास्त्रों का दोहन हो और जिसमें जैनधर्म का सर्वधर्मसमभाव-पूर्ण कार्य अच्छी तरह से प्रतिबिम्बित हो सके। जब मेरे स्नेही विद्यार्थी श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ (न्यायतीर्थ, अध्यापक—जैन गुरुकुल, ब्यावर) ने जैन सूत्रों में से ऐसा संकलन करके मुझे दिखाया तो मैंने समझा कि मेरा संकल्प सिद्ध हुआ।

उक्त संकलन के संशोधन होने के बाद उस पर मेरे मित्र पंडित प्रवर प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलालजी संघवी (आचार्य जैनशास्त्र, हिंदू-विश्व-विद्यालय, काशी) की वेधक दृष्टि फिरी और पुनः उपयोगी संशोधन हुए। इस प्रकार 'महावीर-वाणी' प्रस्तुत हुई।

साथ ही 'सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः'—न्याय से उसके लिए हमारे चिर-परिचित एक उदार मारवाड़ी सज्जन श्री मानमलजी गोलेच्छा [प्रतिनिधि—शंकरलाल मानमलजी, खीचन (फलौधी, मारवाड़)] से अर्थ-सहायता भी उपलब्ध हो गयी। वह विद्याप्रेमी और विद्योपासक हैं, ज्ञानप्रचार और जनहित में सदैव

दत्तचित्त रहते हैं और राष्ट्र प्रेम में रंगे हुए है। 'महावीर-वाणी' की रामकहानी सुनते ही उन्होंने सत्वर भाई शान्तिलाल को उचित पारिश्रमिक-पारितोषिक भेंट करके उसके संपादन के लिए मुझे उत्साहित किया।

भाई मानमलजी की इच्छा थी कि 'महावीर-वाणी' का अधिक से अधिक प्रचार हो, अतः उनके परामर्श से इसे 'सस्ता-साहित्य मंडल' (नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित कराने का निश्चय किया गया। 'मंडल' के संचालक-मंडल से इसके लिए शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और उसीका फल है कि यह ग्रन्थ पाठकों के सामने है।

भाई मानमलजी ने सेवा-भावना से प्रेरित होकर तथा अपने काका की स्मृति में आयोजित 'गोलेच्छाग्रन्थमाला' के अन्तर्गत निकालने के पूर्व निश्चय का परित्याग करके यह ग्रन्थ प्रकाशनार्थ 'सस्ता-साहित्य-मंडल' को दिया है। अतः सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र वे हैं। 'सस्ता-साहित्य-मंडल' के संचालक का भी मैं विशेष ऋणी हूँ।

मूल पाठ को ठीक-ठीक संशोधन तथा संपादन का भार भाई मानमलजी का सौंपा हुआ मैंने उठाया है और दिल्ली निवासी भाई गुलाबचन्द जैन के प्रबल अनुरोध से भारत प्रसिद्ध, समन्वयदर्शी विद्वद्वर डा० भगवान्दास जी ने इसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। अतः हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

'वाणी' का हिन्दी भाषान्तर मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री अमरचन्दजी मुनि (कवि—उपाध्याय) ने किया है और उसका संशोधन श्री वियोगी हरि ने करने की कृपा की है। इनका भी आभार मानना उचित है।

यद्यपि मैंने मूल के संपादन तथा संशोधन में भरसक सावधानी रखी है, तो भी मेरी आँखें कमज़ोर होने के कारण उसमें त्रुटियाँ रह जाना शक्य है; पाठकगण कृपया उन्हें क्षमा करें।

१२/ब, भारतीनिवास सोसाइटी,
अहमदाबाद नं० ६ } बेचरदास जीवराज दोशी

प्रस्तावना

सन् १९३५ से सन् १९३८ ई० तक, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का सदस्य होने के कारण, मुझको, प्रति वर्ष, ढाई तीन महीने, माघ-फाल्गुन-चैत्र में, नई दिल्ली में रहना पडा। दिल्ली निवासी श्री गुलाबचन्द जैन, वहाँ, कई बेर, मुझसे मिलने को आये, और किसी प्रसंग मे, श्री बेचरदासजी की चर्चा उन्होने की। सन् १९३९ में, मार्च के महीने में, गुलाबचन्द जी, किसी कार्य के वश, काशी आये; मुझसे कहा कि श्री बेचरदास जी ने, जो अब अहमदाबाद कालिज में प्राकृत भाषा और जैन दर्शन के अध्यापक है, "महावीर-वाणी" नाम से एक ग्रन्थ का सकलन किया है, और उनकी बहुत इच्छा है कि तुम (भगवान्दास) उसकी प्रस्तावना लिख दो। मैंने उनको समझाने का यत्न किया; मेरा वयस ७२ वर्ष का; आँखें दुर्बल; सब शक्ति क्षीण; तीन चार ग्रथ अग्रेजी, हिन्दी, सस्कृत के, जिनके कुछ अंश लिख और छप भी गये है, पूर्ण करने को पडे हुए; अन्य, सामाजिक जीवन में अनिवार्य, झझटो की भी कमी नही, थोडा भी नया काम उठाना मेरे लिये नितान्त अनुचित, सर्वोपरि यह कि मैं प्राकृत भाषा और जैन साहित्य से अनभिज्ञ। पर गुलाबचन्द जी ने एक नही माना, दिल्ली जाकर, पुन: पुन मुझको लिखते

ही रहे, कि श्री बेचरदास जी ने निश्चय कर लिया है, कि विना मेरी प्रस्तावना के, ग्रथ छपेगा ही नही। इस प्रीत्याग्रह के आगे, मुझको मानना ही पडा।

श्री गुलाबचन्द जी, "महावीर-वाणी" की हस्त-लिखित प्रति ले कर, स्वय काशी आये। मैंने समग्र ग्रथ, अधिकाश उनसे पढवा कर, शेष स्वय देख कर, समाप्त किया। महावीर-स्वामी की, लोक के हित के लिये कही, करुणामयी, वैराग्य भरी, वाणी को सुन और पढ कर, चित्त में श्रान्ति के स्थान मे प्रसन्नता ही हुई, और सात्त्विक भावो का अनुभव हुआ।

महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध, कुछ वर्षों की छुटाई वड़ाई से, समकालीन हुए—यह निर्विवाद है। किन्तु इन दोनों महापुरुषो के जन्म और निर्वाण की ठीक तिथियो के विषय मे ऐतिह्यविदो मे मतभेद है; तथापि यह सर्व-सम्मत है कि विक्रम पूर्व छठी शताब्दी में दोनो ने उपदेश किया। जैन सम्प्रदायो का विश्वास है कि महा-वीर का, जिनका पूर्व-नाम "वर्धमान" है, जन्म, विक्रम पूर्व ५४२ और निर्वाण वि० पू० ४७०, मे हुआ।

उस समय मे "लिपि" कम थी, "श्रुति" और "स्मृति" की ही रीति अधिक थी; गुरु के, ऋषि के, महापुरुष के, आचार्य के वचनो को श्रोतागण सुनते और स्मृति मे रख लेते थे। महावीर के निर्वाण के वाद दूसरी शताब्दी में वडा अकाल पड़ा, जिनानुयायी, "क्षपण"

वा "श्रमण" कहलाने वाले, साधुओ का संघ बहुत बिखर गया; कंठ करने की परम्परा में भग हुआ; बहुत उपदेश लुप्त हो गये। अकाल मिटने के बाद, स्थूलभद्राचार्य की देख रेख मे, पाटलिपुत्र में सघ का बड़ा सम्मेलन हुआ, बचे हुए उपदेशो का अनुसन्धान और राशीकरण हुआ; पर लिखे नही गये। महावीर निर्वाण की नवी शताब्दी (वीर-निर्वाण ८२७-८४० तक) मे, मथुरा मे स्कदिलाचार्य, और वलभी मे नागार्जुन, के आधिपत्य में, सम्मेलन होकर, उपदेशो का संग्रह किया गया, और उन्हे लिखवाया भी गया। निर्वाण की दसवी शताब्दी में बहुत से श्रुतधारी साधुओ का विच्छेद हुआ। इस बेर, देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने अवशिष्ट संघ को वलभी नगर में एकत्र करके उक्त दोनो, माथुरी और वलभी वाचनाओ, की समन्वय-पूर्वक लिपि कराई। जिनोक्त सूत्र के नाम से प्रसिद्ध वाक्यो के सग्रहीता, यह देवर्धिगणि ही माने जाते है। उमा-स्वाति के "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र", जो प्राय जिननिर्वाण के ४७१, अर्थात् विक्रम सवत् के प्रारम्भ, के लगभग, किसी समय में, लिखे गये, और जिनमें जैनदर्शन का सार बहुत उत्तम रीति से कहा है, वे इनसे भिन्न है। देवर्धिगणि के सकलित सूत्र, आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक सूत्रादि को देखने का मुझे अवसर नही मिला। श्री बेचरदास जी ने, उन्ही सूत्रो मे से, स्वयं महावीर स्वामी के कहे श्लोको का उद्धरण और सदर्भण, प्रस्तुत ग्रथ "महावीर-वाणी" में किया है।

२५ सूत्रो, वा अध्यायो में, ३४५ प्राकृत श्लोकों, और उनके हिन्दी अनुवादो का संग्रह है। मुझको नही ज्ञात है, कि जैन वाङ्मय में इस प्रकार का कोई ग्रंथ, प्राचीन, है वा नही। प्राय: न होगा; अन्यथा श्री बेचरदास जी को यह परिश्रम क्यो करना होता। बौद्ध वाङ्मय में, एक छोटा, पर बहुत उत्तम ग्रंथ, "धम्म-पद" के नाम से, वैसा ही प्रसिद्ध है, जैसा वैदिक वाङ्मय मे "भगवद्गीता"; "धम्म-पद" भी स्वयं बुद्धोक्त पद्यो का संग्रह कहा जाता है। संभव है कि "महावीर-वाणी", जैन सम्प्रदाय मे प्राय. वही काम देने लगे, जो बौद्ध सम्प्रदाय में धम्मपद देता है।

भेद इतना है कि, "महावीर-वाणी" के अधिकतर श्लोक, संसार की निन्दा करने वाले, वैराग्य जगाने वाले, यतिधर्म संन्यास-धर्म सिखाने वाले हैं; गृहस्थोपयोगी उपदेश कम है, पर है; विनय सूत्राध्याय मे कितने ही उपदेश गृहस्थोपयोगी है।

मुझे यह देख कर विशेष आनन्द हुआ कि बहुतेरे श्लोक ऐसे है, जिनके समानार्थ श्लोक प्रामाणिक वैदिक और बौद्ध ग्रथो में भी बहुतायत से मिलते है। प्रथम मगलाध्याय के बाद के ६ अध्यायों में पाँच धर्मों की प्रशसा की है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। मनुस्मृति, बौद्ध पचशील, योग-सूत्र आदि, इन्ही पाँच का उपदेश करते है। ये, गृहस्थ श्रावक, उपासक के लिये भी, देश-काल-समय के (शर्त के) अवच्छेद के साथ, उपयोगी है; और यति,

सन्यासी, भिक्षु, क्षपण, श्रमण के लिये भी अधिकाधिक मात्रा में, उन अवच्छेदो को दिन दिन कम करते हुए, परमोपयोगी हैं; जब वह सर्वथा समयो (शर्तों) से अनवच्छिन्न हो जाते हैं, तब "महाव्रत" होकर सद्य. मोक्ष के हेतु होते हैं।

अहिंस-सच्च च, अतेणग च, तत्तो य बम्भ, अपरिग्गह च,
पडिवज्जिया पच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसिय विद्।

—धम्मसुत्त, श्लोक २

ब्राह्मण सूत्राध्याय के भाव वैसे ही हैं, जैसे महाभारत के शांति-पर्व में कहे हुए प्राय बीस श्लोको के है, जिनमें से प्रत्येक के अन्तिम शब्द यह हैं, "त देवा ब्राह्मण विदु."। धम्मपद में भी "ब्राह्मण वग्गो" में ऐसे ही भाव के श्लोक हैं।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो,
यम्हि सच्च च धम्मो च, सो सुची, सो च ब्राह्मणो।
न चाहं ब्राह्मण ब्रूमि योनिज मत्ति-सम्भव,
अकिंचनमनादान, तमह ब्रूमि ब्राह्मण। (धम्मपद)

"महावीर-वाणी' में कहा है,

अलोलुपं, मुहाजीविं अणगार अकिंचन,
असंसत्तं गिहत्थेसु, त वयं बुम माहण।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तियो,

वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

जैन आगम उत्तराध्ययन, अ० २५, गाथा २८-३२

कुछ लोगो को यह भ्राति होती है कि महावीर और बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को तोड़ने का यत्न किया। ऐसा नही है; उन्होने तो उसको केवल सुधारने का ही यत्न किया है। महाभारत में पुनः पुन. स्पष्ट शब्दो में, वही बात कही है, जो महावीर ने कही है।

न योनिर्नापि सस्कारो, न श्रुतं न च सतति:,

कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तमेव तु कारणम्।

न विशेषोऽस्ति वर्णाना, सर्वं ब्राह्ममिद जगत्

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम्।

महावीर ने और बुद्ध ने, दोनो ने, "कर्मणा वर्ण." के सिद्धान्त पर ही जोर दिया। यही सिद्धान्त, उत्तम वर्ण-व्यवस्था का मूल मंत्र है; इसके न मानने से, इसके स्थान पर "जन्मना वर्ण." के अपसिद्धान्त की स्थापना कर देने से ही, भारतीय जनता की वर्त्तमान घोर दुर्दशा हो रही है।

यह खेद का स्थान है कि जैन सम्प्रदाय में भी व्यवहारतः जिनोपदिष्ट सिद्धान्त का पालन नही होता; प्रत्युत उसके विरोधी अप-सिद्धान्त का अनुसरण हो रहा है। मै आशा करता हूँ, कि

"महावीर-वाणी" के द्वारा, जैन सम्प्रदाय का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा, और सम्प्रदाय के माननीय विद्वान् यति जन, इस, महावीर के, समाज और गार्हस्थ्य के परमोपयोगी उपदेश, आदेश का जीर्णोद्धार अपने अनुयायियो के व्यवहार मे करावेगे।

अन्त में, इतना ही कहना है कि मै, प्रकृत्या, समन्वयवादी, सम्वादी, सादृश्यदर्शी, ऐक्यदर्शी हूँ, विरोधदर्शी, विवादी, वैदृश्यान्वेपी, भेदावलोकी नही हूँ। मेरा यही विश्वास है कि सभी लोकहितेच्छु महापुरुषो ने उन्ही उन्ही सत्यो, तथ्यो, कल्याण-मार्गों का उपदेश किया है, जीवन के पूर्वार्घ में लोक-यात्रा के साधन के लिये, और परार्घ में परमार्थ-मोक्ष-निर्वाण-नि श्रेयस के साधन के लिये; भारत में तो महर्पियो ने, महावीर स्वामी ने, बुद्ध देव ने, मुख्य मुख्य शब्द भी प्राय वही प्रयोग किये है।

'महावीर-वाणी' के अन्तिम 'विवाद सूत्र' में, कई वादो की चर्चा कर दी है। और उपसहार बहुत अच्छे शब्दो में कर दिया है—

एवमेयाणि जम्पन्ता, वाला पडितमाणिणो,
निययानियय सन्तं, अयाणन्ता अवुद्धिया।

अर्थात्,

एवमेते हि जल्पन्ति, वाला. पण्डितमानिन,
नियताऽनियतं सन्तं, अजानन्तो ह्यवुद्धय.।

यही आशय उपनिषत् के वाक्य का है,

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना.,
स्वयंधीरा. पण्डितम्मन्यमाना:,
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: ।

आज काल के पाडित्य मे, शब्द बहुत, अर्थ थोड़ा; विवाद बहुत, सम्वाद नही; अहमहमिका, विद्वत्ता-प्रदर्शनेच्छा बहुत, सज्ज्ञानेच्छा नही; द्वेष द्रोह बहुत, स्नेह प्रीति नही; असार-पलाल बहुत, सार-धान्य नही; अविद्या-दुर्विद्या बहुत, सद्विद्या नही; शास्त्र का अर्थ, मल्लयुद्ध। प्राचीन महापुरुषो के वाक्यो मे, इसके विरुद्ध, सार, सज्ज्ञान, सद्भाव बहुत, असार और असत् नही। क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही मे, अविद्या भी है, और विद्या भी; दु.ख भोगने पर ही वैराग्य और सद्बुद्धि का उदय होता है।

सा बुद्धिर्यदि पूर्वं स्यात् क. पतेदेव बन्धने?

फिर फिर अविद्या का प्राबल्य होता है; वैमनस्य, अशाति, युद्ध, समाज की दुर्व्यवस्था बढती है; सत् पुरुषो महापुरुषो का कर्तव्य है कि प्राचीनो के सदुपदेशो का, पुन पुन जीर्णोद्धार और प्रचार करके, और सब की एकवाक्यता, समरसता, दिखा के, मानवसमाज में, सौमनस्य, शाति, तुष्टि, पुष्टि का प्रसार करें, जैसा महावीर और बुद्ध ने किया।

जैन शास्त्र के प्रसिद्ध दो श्लोक, एक हिन्दी का और एक संस्कृत का, मैंने बहुत वर्ष हुए, श्री शीतलप्रसाद जी ब्रह्मचारी (जैन) से सुने; मुझे बहुत प्रिय लगे।

कला बहत्तर पुरुष की, वा में दो सरदार,
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

आस्रवो बन्धहेतु स्यान् मोक्षहेतुश्च संवर,
इतीयम आर्हती मुष्टि सर्वमन्यत् प्रपञ्चनम्।

वैशेषिक सूत्र है,

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धि स धर्मः।

तथा वेदान्त का प्रसिद्ध श्लोक है,

बन्धाय विषयाऽऽसक्तं, मुक्त्यै निर्विषय मनः,
एतज् ज्ञान च मोक्षश्च, सर्वोऽन्यो ग्रन्थविस्तर.।

समय समय के सम्प्रदायाचार्य, यदि ऐसे विरोध-परिहार पर, सम्वाद पर, अधिक ध्यान दे और दिलावें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग हो जाय। पर प्राय स्वयं महा "आस्रव"-ग्रस्त होने के कारण, यति-भिक्षु-संन्यासी का रूप रखते हुए भी, भेद-बुद्धि, कलह, राग-द्वेष ही मनुष्यो में बढाते है। यहाँ तक कि स्वय महावीर और बुद्ध के जीवनकाल में ही, (यथा ईसा और मुहम्मद के जीवनकाल में ही),

प्रत्येक के अनुयायियो मे भेद हो गये; और एक के अनुयायी क्षपणो और दूसरे के अनुयायी श्रमणो, मे मारपीट तक हुई, जिसका वर्णन क्षेमेन्द्र ने "अवदान-कल्पलता" काव्य मे किया है। और उन दोनो के निर्वाण के पश्चात् तो कितने ही भिन्न भिन्न 'पथ' प्रत्येक के अनुयायियो मे हो गये। मै आशा करता हूँ कि इन भेदो के मिटाने मे, और संवाद बढाने मे, यह 'महावीर-वाणी' सहायता करेगी।

काशी—
सौर १०-४-१९९७ वि० } भगवान्‌दास

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	मंगल-सूत्र	३
२	धर्म-सूत्र	७
३	अहिंसा-सूत्र	१५
४	सत्य-सूत्र	२१
५	अस्तेनक-सूत्र	२७
६	ब्रह्मचर्य-सूत्र	३१
७	अपरिग्रह-सूत्र	४१
८	अरात्रिभोजन-सूत्र	४५
९	विनय-सूत्र	४९
१०	चतुरंगीय-सूत्र	५७
११-१	अप्रमाद-सूत्र	६५
११-२	अप्रमाद-सूत्र	७३
१२	प्रमादस्थान-सूत्र	८५
१३	कषाय-सूत्र	९३
१४	काम-सूत्र	९९
१५	अशरण-सूत्र	१०५
१६	बाल-सूत्र	१११
१७	पण्डित-सूत्र	१२१
१८	आत्म-सूत्र	१२७
१९	लोकतत्व-सूत्र	१३३
२०	पूज्य-सूत्र	१४१
२१	ब्राह्मण-सूत्र	१४७
२२	भिक्षु-सूत्र	१५३
२३	मोक्षमार्ग-सूत्र	१६१
२४	विवाद-सूत्र	१७१
२५	क्षमापन-सूत्र	१८३
२६	पारिभाषिक शब्दो का अर्थ	१८५

महावीर-वाणी

: १ :

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

: १ :

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

अर्हन्तो को नमस्कार,

सिद्धो को नमस्कार;

आचार्यो को नमस्कार;

उपाध्यायो को नमस्कार;

लोक (ससार) में सब साधुओ को नमस्कार।

—यह पंच नमस्कार समस्त पापो का नाश करनेवाला है, और सब मगलो में प्रथम (मुख्य) मंगल है।

मङ्गल

अर्हन्त मगल है;

सिद्ध मगल है;

साधु मगल है,

केवली-प्ररूपित अर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मगल है।

महावीर-वाणी

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

सरणं

अरिहंते सरणं पवज्जामि।
सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

लोकोत्तम

अर्हन्त लोकोत्तम (ससार में श्रेष्ठ) है,
सिद्ध लोकोत्तम हैं;
साधु लोकोत्तम हैं,
केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है ।

शरण

अर्हन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ;
सिद्धो की शरण स्वीकार करता हूँ;
साधुओ की शरण स्वीकार करता हूँ;
केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

: २ :

धम्म-सुत्तं

(१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

(२)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥२॥

(३)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥३॥

(४)

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥४॥

: २ :

धर्म-सूत्र

(१)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है।

(कौन-सा धर्म ?) अहिंसा, सयम और तप।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतो को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदेश किये धर्म का आचरण करे।

(३)

छोटे-बडे किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; अदत्त (विना दी हुई वस्तु) न ले, विश्वासघाती असत्य न बोले—यह आत्मनिग्रही सत्पुरुषो का धर्म है।

(४)

जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह मे बहते हुए जीवो के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है, और उत्तम शरण है।

(५)

अद्धाणं जो महन्तं तु, अप्पाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥५॥

(६)

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ ॥६॥

(७)

अद्धाणं जो महन्तं तु, सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥७॥

(८)

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥८॥

(९)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥९॥

(५)

जो पथिक विना पाथेय लिये बडे लवे मार्ग की यात्रा पर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यत दुखी होता है।

(६)

और जो मनुष्य विना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहाँ विविध प्रकार की आधि-व्याधियो से पीड़ित होकर अत्यंत दुखी होता है।

(७)

जो पथिक बडे लवे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यंत सुखी होता है।

(८)

और जो मनुष्य यहाँ भलीभाँति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्पकर्मी तथा पीडारहित होकर अत्यंत सुखी होता है।

(९)

जिस प्रकार मूर्ख गाडीवान जान-बूझकर भी साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर विपम (ऊँचे-नीचे, ऊवड-खावड़) मार्ग पर जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

(१०)

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गेव सोयई ॥१०॥

(११)

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहइ लाभं एगो मूलेण आगओ ॥११॥

(१२)

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१२॥

(१३)

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुव ॥१३॥

(१४)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥१४॥

(१०)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी धर्म को छोडकर, अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह मे पडकर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

(११)

तीन वनिये कुछ पूँजी लेकर धन कमाने घर से निकले। उनमे से एक को लाभ हुआ; दूसरा अपनी मूल पूँजी ही ज्यो-की-त्यो बचा लाया—

(१२)

तीसरा अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँकर लौट आया। यह एक व्यावहारिक उपमा है, यही वात धर्म के सम्वन्ध में भी विचार लेनी चाहिए—

(१३)

मनुष्यत्व मूल है—अर्थात् मनुष्य से मनुष्य वननेवाला, मूल पूँजी को वचानेवाला है। देवजन्म पाना, लाभ उठाना है। और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक् गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूल पूँजी को भी गवाँ देनेवाला मूर्ख है।

(१४)

जो रात और दिन एक वार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नही आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन विल्कुल निष्फल जाते हैं।

(१५)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइग्रो ॥१५॥

(१६)

जरा जाव न पीड़ेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥१६॥

(१७)

मरिहिसि रायं ! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय ।
एक्को वि धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥१७॥

(१५)

जो रात और दिन एक वार अतीत की ओर चले जाते है, वे फिर कभी वापस नही आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते है।

(१६)

जवतक बुढापा नही सताता, जवतक व्याधियाँ नही वढती, जवतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नही होती, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए—वाद में कुछ नही होने का।

(१७)

हे राजन्! जब कभी इन मनोहर काम-भोगो को छोडकर आप परलोक के यात्री वनेंगे, तब एकमात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोडकर जगत् मे दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नही।

: २ :

अहिंसा-सुत्तं

(१८)

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥१॥

(१९)

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥२॥

(२०)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

(२१)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥४॥

: ३ :

अहिंसा-सूत्र

(१८)

भगवान् महावीर ने अठारह धर्म-स्थानो मे सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों पर संयम रखना अहिंसा है; वह सब सुखो की देनेवाली मानी गई है।

(१९)

संसार मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उन सब को—क्या जान में, क्या अनजान मे—न खुद मारे और न दूसरो से मरवाये।

(२०)

जो मनुष्य प्राणियो की स्वय हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालो का अनुमोदन करता है, वह ससार में अपने लिए वैर को ही बढाता है।

(२१)

संसार में रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवो पर मन से, वचन से और शरीर से,—किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करे।

(२२)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥५॥

(२३)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥६॥

(२४)

पुढवी-जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण-रुक्खा सवीयगा ॥७॥

(२५)

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥८॥

(२६)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥९॥

(२२)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता। इसी-लिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि), घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते है।

(२३)

भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियो को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जान-कर उनकी कभी भी हिंसा न करे।

(२४)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति-काय—ये सब जीव अतिसूक्ष्म है, ऊपर से एक आकार के दिखने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(२५)

उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त दूसरे त्रस प्राणी भी है। ये छहो षड्जीवनिकाय कहलाते है। जितने भी ससार में जीव है, सब इन्ही छह के अन्तर्गत है। इन के सिवाय और कोई जीव-निकाय नही है।

(२६)

बुद्धिमान मनुष्य उक्त छहो जीव-निकायो का सब प्रकार की युक्तियो से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दु:ख से घबराते हैं'—ऐसा जानकर उन्हें दु ख न पहुँचाये।

(२७)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा—समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥१०॥

(२८)

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुबन्धीणि महब्भयाणि ॥११॥

(२९)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥१२॥

(२७)

ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसा का सिद्धात ही सर्वोपरि है'—मात्र इतना ही विज्ञान है।

(२८)

सम्यग् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया ऐसा बुद्धिमान मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एव महाभयकर दु खो को जानकर अपने को पापकर्म से बचाये।

(२९)

ससार में प्रत्येक प्राणी के प्रति—फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना—वास्तव में बड़ा ही दुष्कर है।

: ४ :

सच्च-सुत्तं

(३०)

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥१॥

(३१)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥

(३२)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥

(३३)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥४॥

: ४ :

सत्य-सूत्र

(३०)

सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

(३१)

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिए, क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरो को पीडा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वय बोले, न दूसरो से बुलवाये।

(३२)

मृपावाद (असत्य) ससार में सभी सत्पुरुषो द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियो को अविश्वसनीय है; इसलिए मृपावाद सर्वथा छोड देना चाहिए।

(३३)

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरो के लिए, दोनो में से किसी के भी लिए, पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक एव मर्मभेदक वचन नही बोलना चाहिए।

(३४)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५॥

(३५)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

(३६)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥७॥

(३७)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥८॥

(३४)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरो को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप वचन नहीं बोलना चाहिए।

(३५)

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

(३६)

भाषा के गुण तथा दोषो को भली भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड देनेवाला, षट्काय जीवो पर सयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले।

(३७)

श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनो से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हो, निदानवाले हो, उनका कभी सेवन न करे।

(३८)

सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥९॥

(३९)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१०॥

(४०)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

(४१)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

(३८)

विचारवान मुनि को वचनशुद्धि का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषो मे महान् प्रशसा प्राप्त होती है।

(३९)

काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नही कहना चाहिए। (क्योकि इससे उन व्यक्तियो को दुःख पहुँचता है।)

(४०)

जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य, किंतु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, जब कि वह भी पाप से अछूता नही रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या ?

(४१)

जो भाषा कठोर हो, दूसरो को दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य भी क्यो न हो—नही बोलनी चाहिए। क्योकि उससे पाप का आस्रव होता है।

: ९ :

अतेणग-सुत्तं

(४२)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥१॥

(४३)

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

(४४)

उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥३॥

(४५)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

: ५ :

अस्तेनक-सूत्र

(४२-४३)

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहु-मूल्य, और तो क्या, दाँत कुरेदने की सीक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये विना पूर्णसयमी साधक न तो स्वय ग्रहण करते है, न दूसरो को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते है, और न ग्रहण करनेवालो का अनुमोदन ही करते हैं।

(४४)

ऊँची, नीची, और तिरछी दिशा मे जहाँ कही भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हो उन्हें अपने हाथो से, पैरो से,—किसी भी अग से पीड़ा नही पहुँचानी चाहिए। और दूसरो की विना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नही करनी चाहिए।

(४५)

जो मनुष्य अपने सुख के लिए त्रस तथा स्थावर प्राणियो की क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है—उन्हे अनेक तरह से कष्ट पहुँचाता हैं, जो दूसरो की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतो का कुछ भी पालन नही करता, (वह भयकर क्लेश उठाता है)।

(४६)

वत्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥५॥

(४६)

दाँत कुरेदने की सीक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी विना दिये चोरी से न लेना, (वड़ी चीजो को चोरी से लेने की तो वात ही क्या ?) निर्दोष एवं एपणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह वडी दुष्कर बात है।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(४७)

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

(४८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥२॥

(४९)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥३॥

(५०)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४॥

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(४७)

काम-भोगो का रस जान लेनेवाले के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना, बडा ही कठिन कार्य है।

(४८)

जो मुनि सयम-घातक दोषो से दूर रहते है, वे लोक में रहते हुए भी दु सेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नही करते।

(४९)

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषो का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-ससर्ग का सर्वथा परित्याग करते है।

(५०)

आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृगार, स्त्रियो का ससर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन—सब तालपुट विष के समान महान् भयंकर है।

(५१)

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥५॥

(५२)

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥६॥

(५३)

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥७॥

(५४)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥८॥

(५१)

श्रमण तपस्वी स्त्रियो के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम-चेष्टा और कटाक्ष आदि का मन में तनिक भी विचार न लाये, और न इन्हे देखने का कभी प्रयत्न करे।

(५२)

स्त्रियो को रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नही करने चाहिएँ। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषो के लिए यह नियम अत्यत हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

(५३)

ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त भिक्षु को मन में वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढानेवाली स्त्री-कथा को छोड देना चाहिए।

(५४)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियो के साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड देना चाहिए।

(५५)

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविय-पेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥९॥

(५६)

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥

(५७)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥११॥

(५८)

पणियं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥

(५९)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥१३॥

(५५)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियो के अग-प्रत्यगो की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखो मे विकार पैदा करनेवाले हावभावो और स्नेह-भरे मीठे वचनो की ही ओर।

(५६)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियो का कूजन (बोलना), रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण क्रन्दन—जिनके सुनने पर विकार पैदा होते है—सुनना छोड देना चाहिए।

(५७)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियो के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीडा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(५८)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टिकारी भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

(५९)

ब्रह्मचर्य-रत स्थिरचित्त भिक्षु को सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यो न लगी हो, लालसावश अधिकमात्रा में कभी भी भोजन नही करना चाहिए।

(६०)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥

(६१)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥

(६२)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥

(६३)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१७॥

(६४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥१८॥

(६०)

जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नही होता।

(६१)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शरीर की शोभा और टीप-टाप का कोई भी शृगार-सम्बन्धी काम नही करना चाहिए।

(६२)

ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणो को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

(६३)

स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगो को हमेशा के लिए छोड दे। इतना ही नही, जिनसे ब्रह्मचर्य मे तनिक भी क्षति पहुँचने की सभावना हो, उन सब शका-स्थानो का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

(६४)

देवताओं-सहित समस्त ससार के दुख का मूल एकमात्र काम-भोगो की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीत-राग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है।

(६५)

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥१६॥

(६६)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥

(६५)

जो मनुष्य इस भाँति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते हैं।

(६६)

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान मे हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

: ७ :

अपरिग्गह-सुत्तं

(६७)

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१॥

(६८)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२॥

(६९)

बिड़मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥३॥

(७०)

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्र

(६७)

प्राणिमात्र के सरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नही बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

(६८)

पूर्णसयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहो का त्याग करना होता है। समस्त पापकर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

(६९)

जो सयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनो में रत है, वे विड और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड आदि किसी भी वस्तु के सग्रह करने का मन मे संकल्प तक नही लाते।

(७०)

परिग्रह विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, और रजो-हरण आदि वस्तुएँ रखते है, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम मे लाते है। (इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।)

(७१)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥५॥

(७२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥

(७१)

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

(७२)

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

: ८ :

अराइभोयण-सुत्तं

(७३)

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

(७४)

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥२॥

(७५)

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥३॥

(७६)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥४॥

: ८ :

अरात्रि-भोजन-सूत्र

(७३)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(७४)

संसार में बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं—वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते। तो रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है?

(७५)

जमीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहींपर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचाकर भोजन कैसे किया जा सकता है?

(७६)

इस भाँति सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन न करे।

(७७)

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥५॥

(७८)

पाणिवह-मुसावाया-ऽदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥६॥

(७७)

अन्न आदि चारो ही प्रकार के आहार का रात्रि मे सेवन नही करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का सग्रह करना निषिद्ध है। अत अरात्रिभोजन वास्तव मे बडा दुष्कर है।

(७८)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन—जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह 'अनास्रव' (आत्मा में पापकर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आस्रव कहलाते है, उनसे रहित, अनास्रव) हो जाता है।

: ९ :

विणय-सुत्तं

(७९)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा।
साहा-प्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ य से पुप्फं फलं रसो य ॥१॥

(८०)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

(८१)

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ॥३॥

: ९ :

विनय-सूत्र

(७९)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओ से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं। छोटी शाखाओ से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमश. फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

(८०)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य बडी जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति सपादन करता है। अन्त मे, निश्रेयस (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

(८१)

इन पाँच कारणो से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नही कर सकता —

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

(८२-८३)

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥५॥

(८४)

आणानिद्देसकरे,- गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६॥

(८५-८८)

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥७॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥८॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥९॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१०॥

(८२-८३)

इन आठ कारणो से मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है—

हर समय हँसनेवाला न हो, सतत इन्द्रिय-निग्रही हो, दूसरो के मर्म को भेदन करनेवाले वचन न बोलता हो, सुशील हो, दुराचारी न हो, रसलोलुप न हो, सत्य मे रत हो, क्रोधी न हो—शान्त हो।

(८४)

जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितो तथा आकारो को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

(८५-८८)

नीचे के पन्द्रह कारणो से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है—

उद्धत न हो—नम्र हो, चपल न हो—स्थिर हो; मायावी न हो—सरल हो; कुतूहली न हो—गंभीर हो, किसीका तिरस्कार न करता हो, क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो—शीघ्र ही शान्त हो जाता हो, अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालो के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रो के अध्ययन का गर्व न करता हो, किसीके दोषो का भडाफोड़ न करता हो; मित्रो पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही करता हो, किसी प्रकार का झगडा-फसाद न करता हो बुद्धिमान हो, अभिजात अर्थात् कुलीन हो, लज्जाशील हो, एकाग्र हो।

(८९)

आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥११॥

(९०-९२)

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई ।
मेतिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१२॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥
पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥१४॥

(९३)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
काय-ग्गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥१५॥

(८९)

जो गुरु की आज्ञा का पालन नही करता, जो उनके पास नही रहता, जो उनसे शत्रुता का वर्ताव रखता है, जो विवेकशून्य है, उसे अविनीत कहते है ।

(९०-९२)

जो वार-वार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नही होता, जो मित्रता रखनेवालो का भी तिरस्कार करता है, जो शास्त्र पढकर गर्व करता है, जो दूसरो के दोषो को ही उखेड़ता रहता है; जो अपने मित्रो पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है, जो मनमाना बोल उठता है—बकवादी है, जो स्नेही जनो से भी द्रोह रखता है, जो अहकारी है; जो लोभी है, जो इन्द्रियनिग्रही नही, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है ।

(९३)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे । मस्तक पर अजलि चढाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे । जिस तरह भी हो सके उसी तरह मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे ।

(६४)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥

(६५)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१७॥

(६४)

जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय (भक्ति) नही करता, वह इससे अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे वाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञानवल भी उसीका सर्वनाश करता है।

(६५)

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति'—ये दो वातें जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

: १० :

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(९६)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

(९७)

समावन्नाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥

(९८)

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥

(९९)

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-बुक्कसो।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥४॥

: १० :

चतुरङ्गीय-सूत्र

(९६)

ससार में जीवो को इन चार श्रेष्ठ अङ्गो (जीवन-विकास के साधन) का प्राप्त होना बडा दुर्लभ है—

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ।

(९७)

संसार की मोह-माया में फँसी हुई मूर्ख प्रजा अनेक प्रकार के पापकर्म करके अनेक गोत्रोवाली जातियो में जन्म लेती है। सारा विश्व इन जातियो से भरा हुआ है।

(९८)

जीव कभी देवलोक मे, कभी नरकलोक में, और कभी असुर-लोक में जाता है। जैसे भी कर्म होते हैं, वही पहुँच जाता है।

(९९)

कभी तो वह क्षत्रिय होता है और कभी चाण्डाल, कभी वर्ण-सकर—बुक्कस, कभी कीड़ा, कभी पतंग, कभी कुथुआ, तो कभी चींटी होता है।

(१००)

एवमावट्टजोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा ।
न निव्विज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

(१०१)

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

(१०२)

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं ॥७॥

(१०३)

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं ॥८॥

(१०४)

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥९॥

(१००)

पापकर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहने-वाली योनियों में बारबार पैदा होते रहते हैं, किंतु इस दुःखपूर्ण संसार से कभी खिन्न नहीं होते जैसे दुःखपूर्ण राज्य से क्षत्रिय।

(१०१)

जो प्राणी काम-वासनाओं से विमूढ हैं, वे भयंकर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

(१०२)

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पाप-कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त होता है; तब कहीं मनुष्य-जन्म मिलता है।

(१०३)

मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते है।

(१०४)

सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण प्राप्त भी हो जाता है, तो उसपर श्रद्धा का होना तो अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से लोग न्यायमार्ग को—सत्य-सिद्धात को सुनकर भी उससे दूर ही रहते हैं—उसपर विश्वास नहीं लाते।

(१०५)

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो एं णं पडिवज्जए ॥१०॥

(१०६)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥

(१०७)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१२॥

(१०८)

विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खन्तिए ।
सरीर पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

(१०५)

सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा—दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना, यह तो और भी कठिन है। क्योंकि संसार मे बहुत-से लोग ऐसे है, जो सद्धर्म पर दृढ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण मे नही लाते।

(१०६)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रवरहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्मरज को झटक देता है।

(१०७)

जो मनुष्य निष्कपट एव सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

(१०८)

कर्मों के पैदा करनेवाले कारणो को ढूँढो—उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का सचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोडकर ऊर्ध्व-दिशा को प्राप्त करता है—अर्थात् उच्च और श्रेष्ठगति पाता है।

(१०९)

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१४॥

(१०६)

जो मनुष्य उक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर संयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मांशो का नाश कर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११०)

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ॥१॥

(१११)

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥२॥

(११२)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥३॥

: ११ :

अप्रमाद-सूत्र

(११०)

जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नही जुडता; अत. एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा और असयम में अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा —तब किसकी शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार लो।

(१११)

जो मनुष्य अनेक पापकर्म कर, वैर-विरोध बढाकर, अमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे अन्त मे कर्मों के दृढ पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यही छोडकर नरक को प्राप्त होते हैं।

(११२)

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे! फिर भी धन के असीम मोह से मूढ मनुष्य दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नही दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नही देख पाता है।

(११३)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥४॥

(११४)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥

(११५)

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥६॥

(११६)

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।

(११३)

जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक में तथा परलोक में—दोनों ही जगह—भयंकर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(११४)

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे भी पाप-कर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

(११५)

आशुप्रज्ञ पण्डित पुरुष को मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए, किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। 'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारण्ड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

(११६)

संसार में जो कुछ धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सबको पाश-रूप जानकर मुमुक्षु बड़ी सावधानी के साथ फूँक-फूँककर पाँव रखे। जबतक शरीर सशक्त है, तबतक उसका उपयोग अधिक-

लाभन्तरे जीवियं वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

(११७)

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

(११८)

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

(११९)

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।

से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिल्कुल ही अशक्त हो जाये, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(११७)

जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु भी जीवन-संग्राम में विजयी बनकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

(११८)

शाश्वतवादी लोग कल्पना बाँधा करते हैं कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेंगे?' परन्तु यों करते-करते भोग-विलास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवल पछताना ही शेष रहता है।

(११९)

आत्म-विवेक कुछ झटपट प्राप्त नहीं किया जाता—इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता के साथ खड़े होकर, काम-भोगों का

समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥१०॥

(१२०)

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

(१२१)

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥१२॥

(१२२)

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥१३॥

परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी ससार की वास्तविकता को समझ-कर, अपनी आत्मा की पापो से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

(१२०)

मोह-गुणो के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने-वाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे—शान्त भाव से अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

(१२१)

संयम-जीवन मे मन्दता पैदा करनेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते है। परतु सयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्मशोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहकार को दूर करे, माया का सेवन न करे, और लोभ को छोड दे।

(१२२)

जो मनुष्य सस्कारहीन है, तुच्छ है, दूसरो की निन्दा करने-वाले है, राग-द्वेष से युक्त है, वे सब अधर्माचरणवाले है—इस प्रकार विचारपूर्वक दुर्गुणो से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) एकमात्र सद्गुणो की ही कामना करता रहे।

: ११-२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(१२३)

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(१२४)

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

(१२५)

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

(१२६)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व-पाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

: ११–२ :

अप्रमाद-सूत्र

(१२३)

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़ ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यो का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२४)

जैसे ओस की बूंद कुशा की नोक पर थोडी देरतक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यो का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नाश हो जा नेवाला है। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२५)

अनेक प्रकार के विघ्नो से युक्त अत्यत अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व सचित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियो को मनुष्य-जन्म का मिलना बडा दुर्लभ है, क्योकि कृत कर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ होते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

(१२८)

आउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(१२९)

तेउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥

(१३०)

वाउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

(१३१)

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणन्तदुरन्तयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

(१३२)

बेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

(१२७)

यह जीव पृथिवी-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२८)

यह जीव जल-काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२९)

यह जीव तेजस्काय मे गया और वहाँ उत्कृष्ट असख्य काल तक रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३०)

यह जीव वायु-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३१)

यह जीव वनस्पति-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट अनन्त काल तक—जिसका बड़ी कठिनता से अन्त होता है—रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३२)

यह जीव द्वीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्येय काल तक रहा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३३)

तेइन्दियकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

(१३४)

चउरिन्दियकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

(१३५)

पंचिन्दियकायमइगश्रो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवगहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

(१३६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

(१३७)

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरियत्तं पुणरावि दुल्लभं ।
बहवे दस्सुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

(१३३)

यह जीव त्रीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३४)

यह जीव चतुरिन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३५)

यह जीव पञ्चेन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सात तथा आठ जन्मतक निरन्तर रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३६)

प्रमाद-बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मो के कारण इस भाँति अनन्त बार भव-चक्र में इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या? आर्यत्व का मिलना बडा कठिन है। बहुत-से-जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु और म्लेच्छ जातियो में जन्म लेते है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३८)

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिन्दिया हु दुल्लहा ।
विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥१६॥

(१३९)

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

(१४०)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

(१४१)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

(१४२)

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

(१३८)

आर्यत्व पाकर भी पाँचो इन्द्रियो को परिपूर्ण पाना बडा कठिन है। बहुत-से लोग आर्य-क्षेत्र मे जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियो-वाले देखे जाते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३९)

पाँचो इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। बहुत-से लोग पाखडी गुरुओ की सेवा किया करते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बडा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान-बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना मे ही लगे रहते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४१)

धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बडा कठिन है। ससार में बहुत-से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगो मे मूर्छित रहते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४२)

तेरा शरीर दिन प्रति दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे है, अधिक क्या—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४३)

अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए
॥२१॥

(१४४)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

(१४५)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वन्तं पुणो वि आविए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

(१४६)

अवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं विइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

(१४३)

अरुचि, फोडा, विसूचिका (हैजा), आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में बढते जा रहे हैं, इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता—अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी ससार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह-बन्धनो से रहित हो जा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४५)

स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनागार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओ का पान न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४६)

विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवो को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोडकर, अब फिर दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४७)

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

(१४८)

तिण्णो सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

(१४९)

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥२७॥

(१४७)

घुमावदार विषम मार्ग को छोडकर तू सीधे और साफ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४८)

तू विशाल ससार-समुद्र को तैर चुका है, अब भला किनारे आकर क्यो अटक रहा है? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४९)

भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोवाले सुभाषित वचनो को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्धि-गति को प्राप्त हो गये।

: १२ :

पमायट्ठाण-सुत्तं

(१५०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

(१५१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥२॥

(१५२)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

(१५३)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

: १२ :

प्रमाद-स्थान-सूत्र

(१५०)

प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म—अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त है वे कर्म-बन्धन करनेवाली है, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित है वे कर्म-बन्धन नही करती। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमश मूर्ख और पडित कहलाता है।

(१५१)

जिस प्रकार वगुली अडे से पैदा होती है और अडा वगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१५२)

राग और द्वेष—दोनो कर्म के वीज है—अत कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्मसिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते है कि ससार में जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण—यही एकमात्र दु ख है।

(१५३)

जिसे मोह नही है उसका दु ख चला गया; जिसे तृष्णा नही उसका मोह चला गया; जिसे लोभ नही है, उसकी तृष्णा चली गई;

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥४॥

(१५४)

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥५॥

(१५५)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥

(१५६)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कुत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७॥

जिसके पास लोभ करने-जैसा कुछ भी पदार्थ-संग्रह नही है, उसका लोभ चला गया।

(१५४)

दूध और दही आदि रसो का अधिक मात्रा में सेवन नही करना चाहिए; क्योंकि प्राय. रस मनुष्यो मे मादकता पैदा करते है। मत्त मनुष्य की ओर काम-वासनाएँ वैसे ही दौडी आती है, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

(१५५)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूप-दर्शन की लालसा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीये की ज्योति देखने की लालसा मे पतग।

(१५६)

रूप मे आसक्त मनुष्य को कही से भी कभी किंचिन्मात्र भी सुख नही मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर केवल क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(१५७)

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८॥

(१५८)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९॥

(१५९)

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१०॥

(१६०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥११॥

(१५७)

जो मनुष्य कुत्सित रूपो के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य मे असीम दु ख-परपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे पापकर्म सचित किये जाते है, जो विपाक-काल में भयकर दु ख-रूप होते हैं।

(१५८)

रूप से विरक्त मनुष्य ही वास्तव मे शोक-रहित है। वह ससार में रहते हुए भी दु ख-प्रवाह से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(१५९)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियो तथा मन के विषय-भोग इस प्रकार दु ख के कारण होते हैं। परन्तु वे ही वीतरागी को किसी भी प्रकार से कभी तनिक भी दु ख नही पहुँचा सकते।

(१६०)

काम-भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते है और न किसी मे रागद्वेषरूप विकृति पैदा करते है। परन्तु मनुष्य स्वय ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना सकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

(१६१)

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥१२॥

(१६१)

अनादि काल से उत्पन्न होते रहनेवाले सभी प्रकार के सासारिक दु खो से छूट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषो ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते है, वे क्रमश मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

: १३ :

कसाय-सुत्तं

(१६२)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

(१६३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

(१६४)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

(१६५)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥४॥

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१६२)

अनिगृहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान (बढते हुए) माया और लोभ—ये चारो ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी ससार-वृक्ष की जड़ो को सीचते हैं।

(१६३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार दोषो को सदा के लिए छोड दे।

(१६४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है, और लोभ सभी सद्गुणो का नाश कर देता है।

(१६५)

शान्ति से क्रोध को मारे; नम्रता से अभिमान को जीते, सरलता से माया का नाश करे, और सन्तोष से लोभ को काबू मे लाये।

(१६६)

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

(१६७)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥६॥

(१६८)

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥७॥

(१६९)

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥८॥

(१७०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥९॥

(१६६)

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाये, तब भी वह सन्तुष्ट नही होगा। अहो ! मनुष्य की यह तृष्णा बडी दुष्पूर है !

(१६७)

ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ भी बढता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोडो से भी पूरी न हो सकी।

(१६८)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पहुँचता है, माया से सद्गति का नाश होता है, और लोभ से इस लोक तथा परलोक में महान् भय है।

(१६९)

चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असख्य पर्वत भी यदि पास मे हो, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नही। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(१७०)

चावल और जौ आदि धान्यो तथा सुवर्ण और पशुओ से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है—यह जानकर सयम का ही आचरण करना चाहिए।

(१७१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
न कुव्वई पावं न कारवेई ॥१०॥

(१७१)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्ण रूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं, और न दूसरों से करवाते हैं।

: १४ :

काम-सुत्तं

(१७२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥

(१७३)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

(१७४)

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥३॥

(१७५)

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥

: १४ :

काम-सूत्र

(१७२)

काम-भोग शल्यरूप है, विषरूप है, और विषधर सर्प के समान है। काम-भोगो की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते है।

(१७३)

गीत सब विलापरूप है, नाट्य सब विडम्बनारूप हैं; आभरण सब भाररूप है। अधिक क्या, ससार के जो भी काम-भोग है, सब-के-सब दुःखावह है।

(१७४)

काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले है और चिरकाल तक दुःख देनेवाले हैं। उनमें सुख बहुत थोडा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख है। मोक्ष-सुख के वे भयकर शत्रु है, अनर्थों की खान है।

(१७५)

जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नही होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

(१७६)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंजमाणा।
ते खुड्डए जीवियं पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥५॥

(१७७)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥६॥

(१७८)

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥७॥

(१७९)

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥८॥

(१८०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

(१७६)

जैसे किंपाक फल रूप-रग और रस की दृष्टि से शुरु में खाते समय तो बड़े अच्छे मालूम होते है, पर बाद में जीवन के नाशक है; वैसे ही कामभोग भी शुरु में तो बड़े मनोहर लगते है, पर विपाक-काल में सर्वनाश कर देते है।

(१७७)

जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी ससार में परिभ्रमण किया करता है, और अभोगी ससार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१७८)

मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, सघाटिका (बौद्ध भिक्षुओ का सा उत्त-रीय वस्त्र), और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दु शील भिक्षु की रक्षा नही कर सकते।

(१७९)

जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में आसक्त रहते है, वे सब अपने लिए दु ख उत्पन्न करते है।

(१८०)

काल बड़ी द्रुति गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही है, फल-स्वरूप काम-भोग चिरस्थायी

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥९॥

(१८१)

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥१०॥

(१८२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥११॥

(१८३)

संवुज्झह ! किं न वुज्झह ?
संवोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१२॥

(१८४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुवया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥१३॥

नही है। भोग-विलास के साधनो से रहित पुरुष को लोग वैसे ही छोड़ देते है, जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी।

(१८१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी अपनी आयु तो बहुत ही परिमित है, एकमात्र मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगो से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१८२)

हे पुरुष! मनुष्यो का जीवन अत्यन्त अल्प है—क्षणभगुर है, अत शीघ्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। ससार में आसक्त तथा काम-भोगो से मूर्च्छित असयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते है।

(१८३)

समझो, इतना क्यो नही समझते? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नही आती। मनुष्य-जीवन का दोबारा पाना आसान नही।

(१८४)

काम-भोग बडी मुश्किल से छूटते है, अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नही सकते। परन्तु जो महाव्रतो-जैसे सुन्दर व्रतो के पालन करनेवाले साधुपुरुष है, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैरकर पार होते है, जैसे—व्यापारी वणिक समुद्र को।

: १५ :

असरण-सुत्तं

(१८५)

वित्तं पसवो न नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

(१८६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥

(१८७)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥३॥

(१८८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुवयन्ति य ॥४॥

: १५ :

अशरण-सूत्र

(१८५)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालो को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे है' और 'मै उनका हूँ'। परन्तु इनमे से कोई भी आपत्तिकाल मे त्राण तथा शरण का देनेवाला नही।

(१८६)

जन्म का दु ख है, जरा (बुढापा) का दु ख है, रोग और मरण का दु ख है। अहो! ससार दु.खरूप ही है! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१८७)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दु ख और क्लेशो का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही क्षणो के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोड़कर चले ही जाना है।

(१८८)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब कोई जीते जी के ही साथी है, मरने पर कोई भी पीछे नही आता।

(१८९)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥५॥

(१९०)

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥६॥

(१९१)

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥७॥

(१९२)

जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥८॥

(१८९)

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते, जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही ले जाते है, तथा स्त्री और पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हे स्वीकार करेगा ?

(१९०)

द्विपद (दास, दासी आदि मनुष्य), चतुष्पद, क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव मे चला जाता है।

(१९१)

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दु.ख में भागीदार नही होते—पर-लोक मे उसके साथ नही जाते।

(१९२)

ससार में जितने भी प्राणी है, वे सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका फल भोगे बिना कभी छुटकारा नही हो सकता।

(१६३)

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥९॥

(१६४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१०॥

(१६५)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं! पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥११॥

(१६६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥१२॥

(१६३)

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोडना ही है, अत इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नहीं है।

(१६४)

मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियो का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है; अत मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नही होता हूँ।

(१६५)

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चचल है ! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो ! क्यो नही परलोक की ओर का खयाल करते हो ?

(१६६)

पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बँटा सकते है, न मित्र-वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब कभी दुःख आकर पडता है, तब वह स्वय अकेला ही उसे भोगता है। क्योकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते है, अन्य किसीके नही।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१९७)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥

(१९८)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥२॥

(१९९)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥३॥

(२००)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥४॥

: १६ :

बाल-सूत्र

(१९७)

जो बाल—मूर्ख मनुष्य काम-भोगो के मोहक दोषो मे आसक्त है, हित तथा निश्रेयस के विचार से शून्य है, वे मन्दबुद्धि मूढ ससार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) में।

(१९८)

जो मनुष्य काम-भोगो में आसक्त होते है, वे बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगो की मान्यता होती है कि—"परलोक हमने देखा नही है, और यह विद्यमान काम-भोगो का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।"

(१९९)

"वर्तमान काल के काम-भोग हाथ मे आये हुए है—पूर्णतया स्वाधीन है। भविष्यकाल में परलोक के सुखो का क्या ठीक—मिले या न मिलें ? और यह भी कौन जानता है कि, परलोक है भी या नही ?"

(२००)

"मै तो सामान्य लोगो के साथ रहूँगा—अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायेगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगो की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते है।

(२०१)

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥५॥

(२०२)

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(२०३)

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुनागु व्व मट्टियं ॥७॥

(२०४)

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥८॥

(२०५)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति ॥९॥

(२०१)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवो को सताना शुरू कर देता है, और अन्ततक मतलब-बेमतलब प्राणिसमूह की हिंसा करता ही रहता है।

(२०२)

मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मास तथा मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

(२०३)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री जन में आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनो के द्वारा वैसे ही कर्म-मल का संचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

(२०४)

पाप-कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय में असाध्य रोगो से पीड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही अन्दर पछताता है, और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों को याद कर-कर परलोक की विभी-षिका से कॉप उठता है।

(२०५)

जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिए निर्दय होकर पाप-कर्म करते है, वे महाभयकर प्रगाढ अन्धकाराच्छन्न एव तीव्र ताप-वाले तमिस्र नरक में जाकर पडते हैं।

(२०६)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइं नावबुज्झई ॥१०॥

(२०७)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंऽते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥

(२०८)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥१२॥

(२०९)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥१३॥

(२१०)

मासे मासे तु जो वाले, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१४॥

(२०६)

अनार्य मनुष्य काम-भोगो के लिए जब धर्म को छोडता है, तब वह भोग-विलास में मूर्च्छित रहनेवाला मूर्ख अपने भयकर भविष्य को नही जानता ।

(२०७)

जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहनेवाला चोर अपने ही दुष्कर्मों के कारण दु ख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अपने दुराचरणो के कारण दु ख पाता है, और वह अतकाल में भी सवर धर्म की आराधना नही कर सकता ।

(२०८)

जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मजे से सो जाया करता है, वह 'पाप-श्रमण' कहलाता है ।

(२०९)

वैर रखनेवाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर में ही आनन्द पाता है। हिंसाकर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले है, अन्त मे दु ख पहुँचानेवाले है ।

(२१०)

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेभर का घोर तप करे और पारण के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषो के बताये धर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नही पहुँच सकता ।

(२११)

इह जीवियं अनियमित्ता, पब्भट्ठा समाहि-जोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥१५॥

(२१२)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१६॥

(२१३)

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥१७॥

(२१४)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ ॥१८॥

(२१५)

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सच्चधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१९॥

(२११)

जो मनुष्य अपने जीवन को अनियन्त्रित (उच्छृङ्खल) रखने के कारण यहाँ समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते है, वे काम-भोगो में आसक्त होकर अन्त में असुरयोनि में उत्पन्न होते है।

(२१२)

ससार में जितने भी अविद्वान् (मूर्ख) पुरुष है, वे सब दुःख भोगनेवाले हैं। मूढ प्राणी अनन्त ससार में वार-वार लुप्त होते रहते है—जन्मते और मरते रहते हैं।

(२१३)

मूर्ख जीवो का अकाम मरण ससार मे वार-वार हुआ करता है; परन्तु पडित पुरुषों का सकाम मरण केवल एक वार ही होता है—वे पुनर्जन्म नही पाते।

(२१४)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म को छोडकर, अधर्म को स्वीकार कर अधर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

(२१५)

सत्य-धर्म के अनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में देवलोक मे उत्पन्न होता है।

(२१६)

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥२०॥

(२१६)

विद्वान्, मुनि, वाल-भाव और अवाल-भाव का इस प्रकार तुलनात्मक विचार कर वाल-भाव को छोड दे, और अवाल-भाव को ही स्वीकार करे।

: १७ :

पंडिय-सुत्तं

(२१७)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥१॥

(२१८)

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥२॥

(२१९)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥३॥

(२२०)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥४॥

: १७ :

पण्डित-सूत्र

(२१७)

पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह ससार-भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्म-पाशो का भली भाँति विचार कर अपने-आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करे, और सब जीवो पर मैत्रीभाव रखे।

(२१८)

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगो को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगो का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२१९)

जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नही कर पाता, वह सच्चा त्यागी नही कहलाता।

(२२०)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा मे सोते रहनेवाले मनुष्यो के बीच रहकर ससार के छोटे-बड़े सभी प्राणियो को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व को अशाश्वत जाने, सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

(२२१)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ॥५॥

(२२२)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥६॥

(२२३)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥७॥

(२२४)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥८॥

(२२५)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय एगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥९॥

(२२१)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही ससार से सच्चा भय खानेवाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नही है।

(२२२)

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अगो को अपने शरीर में सिकोड लेता है, उसी प्रकार पडितजन भी विषयो की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियो को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोडकर रखे।

(२२३)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखो गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का सयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२२४)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(२२५)

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धो की सेवा करना, मूर्खो के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रो का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त मे धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निश्रेयस का मार्ग है।

(२२६)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥१०॥

(२२७)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥११॥

(२२८)

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं सायं पडिलेह जाणे।
तम्हाऽइविज्जो परमं ति नच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥१२॥

(२२९)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा।
मेहाविणो लोभभया वईया,
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं ॥१३॥

(२२६)

समाधि की इच्छा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करनेयोग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

(२२७)

यदि अपने से गुणो मे अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मो का परित्याग कर तथा काम-भोगो में सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूलकर भी सग न करे।

(२२८)

ससार मे जन्म-मरण के महान् दुखो को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले है' अहिंसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्वधारी विद्वान् कभी भी पाप-कर्म नही करते।

(२२९)

मूर्ख साधक कितना ही क्यो न प्रयत्न करे, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मो को कदापि नष्ट नही कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे है, जो पाप-कर्मो के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते है। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नही करते।

: १८ :

अप्प-सुत्तं

(२३०)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वणं ॥१॥

(२३१)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥

(२३२)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥३॥

(२३३)

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मन्तो, बन्धणेहिं वहेहि य ॥४॥

: १८ :

आत्म-सूत्र

(२३०)

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुधा धेनु तथा नन्दन-वन है।

(२३१)

आत्मा ही अपने दु खो और सुखो का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है।

(२३२)

अपने-आपको ही दमन करना चाहिए। वास्तव मे अपने-आपको दमन करना ही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक मे सुखी होता है।

(२३३)

दूसरे लोग मेरा वध बन्धनादि से दमन करे, इसकी अपेक्षा तो मै संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२३४)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥५॥

(२३५)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥६॥

(२३६)

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥७॥

(२३७)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥८॥

(२३८)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

(२३४)

जो वीर दुर्जय संग्राम मे लाखो योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

(२३५)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, वाहरी स्थूल शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

(२३६)

पांच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सवसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२३७)

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नही करता, जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणो का पहले ध्यान नही आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणो को याद कर-कर पछताता है।

(२३८)

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढनिश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता,'

तं तारिसं नो पयलेन्ति इन्दिया,
उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥९॥

(२३९)

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥१०॥

(२४०)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, ज तरन्ति महेसिणो ॥११॥

(२४१)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥

उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नही कर सकती, जैसे—भीषण बवडर सुमेरु पर्वत को।

(२३९)

समस्त इन्द्रियो को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए। पापो से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा ससार के सब दुखो से मुक्त हो जाती है।

(२४०)

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी ससार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

(२४१)

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पाँच महाव्रतो का अच्छी तरह पालन नही करता, अपने-आपको निग्रह में नही रखता, काम-भोगों के रस मे आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नही काट सकता।

: १९ :

लोगतत्त-सुत्तं

(२४२)

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।१।।

(२४३)

गइलक्खणो धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ।।२।।

(२४४)

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ।।३।।

(२४५)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।४।।

(२४६)

सद्दंऽधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।५।।

: १९ :

लोकतत्त्व-सूत्र

(२४२)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छः द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्त्ता जिन भगवानो ने इन सबको लोक कहा है।

(२४३)

धर्मद्रव्य का लक्षण गति है, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लक्षण है।

(२४४)

काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुःख से जाना-पहचाना जाता है।

(२४५)

अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

(२४६)

शब्द, अन्धकार, उजेला, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

(२४७)

जीवाऽजीवा य बन्धो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२४८)

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥७॥

(२४९)

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेणं य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥८॥

(२५०)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥९॥

(२५१)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥१०॥

(२५२-२५३)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥११॥
नामकम्मं च गोत्तं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१२॥

(२४७)

जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव सत्य-तत्त्व है ।

(२४८)

जीवादिक सत्य पदार्थो के अस्तित्व के विपय मे सद्‌गुरु के उपदेश से, अथवा स्वय ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है ।

(२४९)

मुमुक्ष आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनाओ का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है ।

(२५०)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्ष जीव मोक्षरूप सद्‌गति को पाते है ।

(२५१)

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल—इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है ।

(२५२-२५३)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म वतलाये है ।

(२५४)

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१३॥

(२५५)

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥१४॥

(२५६)

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥१५॥

(२५७)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं- तु जहक्कमं ॥१६॥

(२५८)

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥१७॥

(२५९)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥१८॥

(२५४)

तप दो प्रकार का वतलाया है—वाह्य और अभ्यतर। वाह्य तप छ प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छ ही प्रकार का है।

(२५५)

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और संलेखना—ये वाह्य तप हैं।

(२५६)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं।

(२५७)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल—ये लेश्याओ के क्रमश. छ नाम हैं।

(२५८)

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनो से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

(२५९)

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनो से युक्त जीव सद्‌गति में उत्पन्न होता है।

(२६०)

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१९॥

(२६१)

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२०॥

(२६२)

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२१॥

(२६३)

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२२॥

(२६०)

पाँच समिति और तीन गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती हैं।

(२६१)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, और उच्चार—ये पाँच समितियाँ है। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ है। इस प्रकार दोनो मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ है।

(२६२)

पाँच समितियाँ चारित्र्य की दया आदि प्रवृत्तियो में काम आती है, और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारो से निवृत्त होने मे सहायक होती हैं।

(२६३)

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओ का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल ससार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

: २० :

पुज्ज-सुत्तं

(२६४)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२६५)

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥२॥

(२६६)

संथारसेज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥३॥

: २० :

पूज्य-सूत्र

(२६४)

जो आचार-प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनो को सुन एव स्वीकृत कर कहने के अनुसार कार्य को पूरा करता है, जो गुरु की कभी अशातना नही करता वही पूज्य है।

(२६५)

जो केवल सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अपरिचितभाव से दोप-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर कभी खिन्न नही होता और मिल जाने पर कभी प्रसन्न नही होता, वही पूज्य है।

(२६६)

जो सस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोडा ही ग्रहण करता है, सन्तोप की प्रधानता में रत होकर अपने-आपको सदा सन्तुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है।

(२६७)

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥४॥

(२६८)

समावयन्ता वयणाभिघाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥५॥

(२६९)

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

(२७०)

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती ।

(२६७)

संसार में लोभी मनुष्य के द्वारा किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिए लोह-कटक भी सहन कर लिये जाते हैं, परन्तु जो बिना किसी आशा-तृष्णा के कानो में तीर के समान चुभनेवाले दुर्वचनरूपी कटको को सहन करता है, वही पूज्य है।

(२६८)

विरोधियो की ओर से पडनेवाली दुर्वचन की चोटें कानो में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तक पीडा पैदा करती है, परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटो को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य है।

(२६९)

जो परोक्ष में किसीकी निन्दा नही करता, प्रत्यक्ष मे भी कलह-वर्द्धक अट-सट बाते नही बकता, दूसरो को पीडा पहुँचानेवाली एव निश्चयकारी भाषा भी कभी नही बोलता, वही पूज्य है।

(२७०)

जो रसलोलुप नही है, इन्द्रजाली (जादू-टोना करनेवाला) नही है, मायावी नही है, चुगलखोर नही है, दीन नही है, दूसरो से अपनी प्रशसा सुनने की इच्छा नही रखता, स्वयं भी अपने मुंह से

नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥७॥

(२७१)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥८॥

(२७२)

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो विय खिसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥९॥

(२७३)

तेसि गुरूणं गुणसायराणं,
सोच्चाणं मेहावी सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१०॥

अपनी प्रशसा नही करता, खेल तमाशा आदि देखने का भी शौकीन नही, वही पूज्य है।

(२७१)

गुणो से साधु होता है और अगुणो से असाधु, अत हे मुमुक्षु ! सद्गुणो को ग्रहण कर और दुर्गुणो को छोड। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनो में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

(२७२)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसीका भी अपमान तथा तिरस्कार नही करता, जो क्रोध और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२७३)

जो बुद्धिमान मुनि सद्गुण-सिन्धु गुरुजनो के सुभाषितो को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतो में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायो से दूर रहता है, वही पूज्य है।

: २१ :

माहण-सुत्तं

(२७४)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

(२७५)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं ।
राग-द्दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

(२७६)

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

(२७७)

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

: २१ :

ब्राह्मण-सूत्र

(२७४)

जो आनेवाले स्नेही जनो मे आसक्ति नही रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-वचनो म सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७५)

जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७६)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तप साधना के कारण जिसका रक्त और मास भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्मशान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७७)

जो स्थावर, जगम सभी प्राणियो को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों ही प्रकार[1] से कभी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण

---

[1] मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से।

(२७८)

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

(२७९)

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

(२८०)

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥७॥

(२८१)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

(२८२)

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

कहते है।

(२७८)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से—किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७९)

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही फिर वह थोडा हो या ज्यादा,—मालिक के सहर्ष दिये विना चोरी से नही लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८०)

जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८१)

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नही होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगो से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८२)

जो अलोलुप है, जो अनासक्त-जीवी है, जो अनागार (विना घरबार का) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थो से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८३)

जहित्ता पुव्व-संजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

(२८४)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२८५)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१२॥

(२८६)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२८७)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१४॥

(२८३)

जो स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धो को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनो को एक बार त्याग देने के बाद फिर उनमे किसी प्रकार की आसक्ति नही रखता, दोबारा काम-भोगो में नही फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

(२८४)

सिर मूँडा लेनेमात्र से कोई श्रमण नही होता, 'ओम्' का जाप कर लेनेमात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, निर्जन वन में रहनेमात्र से कोई मुनि नही होता, और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेनेमात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२८५)

समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है, और तप से तपस्वी बना जाता है।

(२८६)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कृत कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नही होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँचा नीचा हो जाता है।)

(२८७)

इस भाँति पवित्र गुणो से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रेष्ठ ब्राह्मण) है, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरो का उद्धार कर सकने मे समर्थ है।

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२८८)

रोइअ नायपुत्त-वयणे,
अप्पसमे मन्नेज्ज छ प्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥१॥

(२८९)

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥२॥

(२९०)

सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तव-संजमे य।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मण-वय-कायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥३॥

: २२ :

भिक्षु-सूत्र

(२८८)

जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के प्रवचनो पर श्रद्धा रखकर छ काय के जीवो को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतो का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवो का सवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है।

(२८९)

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—चार कषायो का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषो के वचनो पर दृढविश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखता, जो गृहस्थों के साथ कोई भी सासारिक स्नेह-सम्बन्ध नही जोडता, वही भिक्षु है।

(२९०)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ नही है, जो ज्ञान, तप और सयम का दृढ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है।

(२९१)

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(२९२)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे,
समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥५॥

(२९३)

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।
विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२९४)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइन्दिए।

(२९१)

जो कलहकारी वचन नही कहता, जो क्रोध नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचंचल है, जो प्रशान्त है, जो सयम में ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो सकट आने पर व्याकुल नही होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नही करता, वही भिक्षु है।

(२९२)

जो कान मे काँटे के समान चुभनेवाले आक्रोश वचनो को, प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालभो को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जनावाले स्थानो मे भी निर्भय रहता है, जो सुख-दु ख दोनो को एकसमान समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

(२९३)

जो शरीर से परीषहो को धैर्य के साथ सहन कर ससार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण मे रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९४)

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियो का यथार्थ संयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चितन में ही रत रहता है, जो अपने-आपको

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥७॥

(२९५)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं, पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥८॥

(२९६)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढि च सक्कारण-पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥९॥

(२९७)

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१०॥

भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है।

(२९५)

जो अपने सयम-साधक उपकरणो तक में भी मूर्च्छा (आसक्ति) नही रखता, जो लालची नही है, जो अज्ञात परिवारो के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो संयम-पथ मे बाधक होनेवाले दोषो से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और सग्रह करने के गृहस्थोचित धधो के फेर मे नही पडता, जो सब प्रकार से नि सग रहता है, वही भिक्षु है।

(२९६)

जो मुनि अलोलुप है, जो रसो में अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नही करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है।

(२९७)

जो दूसरो को 'यह दुराचारी है' ऐसा नही कहता, जो कटु वचन —जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो—नही बोलता, 'सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दु ख भोगते हैं'—ऐसा जानकर जो दूसरो की निन्द्य चेष्टाओ पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है।

(२९८)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥११॥

(२९९)

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१२॥

(३००)

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥१३॥

(२९८)

जो जाति का अभिमान नही करता, जो रूप का अभिमान नही करता, जो लाभ का अभिमान नही करता, जो श्रुत (पांडित्य) का अभिमान नही करता, जो सभी प्रकार के अभिमानो का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९९)

जो महामुनि आर्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म में स्थित होकर दूसरो को भी धर्म में स्थित करता है, जो घर-गृहस्थी के प्रपच से निकलकर सदा के लिए कुशील लिंग (निन्द्य वेश) को छोड़ देता है, जो किसीके साथ हँसी-ठट्ठा भी नही करता, वही भिक्षु है।

(३००)

इस भाँति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खड़ा रखनेवाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभगुर शरीर में निवास करना हमेशा के लिए छोड़ देता है, जन्म-मरण के वन्धनो को सर्वथा काटकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

: २३ :

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(३०१)

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(३०२)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(३०३)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(३०४)

पढमं नाणं तओ, दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पावगं ॥४॥

: २३ :

मोक्षमार्ग-सूत्र

(३०१)

भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो।

(३०२)

आयुष्मन् ! विवेक से चले, विवेक से खडा हो; विवेक मे बैठे; विवेक से सोये, विवेक से ोजन करे; और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नही बाँध सकता।

(३०३)

जो सब जीवो को अपने ही समान समझता है, अपने, पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवो का निरोध कर लिया है, जो चचल इन्द्रियो का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नही होता।

(३०४)

प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी सयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

(३०५)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

(३०६)

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ॥६॥

(३०७)

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥७॥

(३०८)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥८॥

(३०९)

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ॥९॥

(३०५)

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनो ही मार्ग सुनकर ही जाने जाते है। बुद्धिमान साधक का कर्त्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसका आचरण करे।

(३०६)

जो न तो जीव (चेतनतत्त्व) को जानता है, और न अजीव (जड़तत्त्व) को ही जानता है, वह जीव अजीव के स्वरूप को न जाननेवाला साधक भला, किस तरह सयम को जान सकेगा ?

(३०७)

जो जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है, ऐसा जीव और अजीव—दोनो को भलीभाँति जाननेवाला साधक ही सयम को जान सकेगा।

(३०८)

जब जीव और अजीव—दोनो को भलीभाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति (नरक तिर्यंच आदि) को भी जान लेता है।

(३०९)

जब वह सब जीवों की नानाविध गतियो को जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को भी जान लेता है।

(३१०)

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१०॥

(३११)

जया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ॥११॥

(३१२)

जया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ॥१२॥

(३१३)

जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१३॥

(३१४)

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥१४॥

(३१०)

जब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगो को जान लेता है—अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है।

(३११)

जब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगो से विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सासारिक सम्बन्धो को छोड़ देता है।

(३१२)

जब अन्दर और बाहर के समस्त सासारिक सम्बन्धो को छोड देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर पूर्णतया अनागार वृत्ति (मुनि-चर्या) को प्राप्त करता है।

(३१३)

जब मुण्डित होकर अनागार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब उत्कृष्ट संवर एव अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

(३१४)

जब उत्कृष्ट सवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है।

(३१५)

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥१५॥

(३१६)

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥१६॥

(३१७)

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१७॥

(३१८)

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१८॥

(३१९)

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥१९॥

(३१५)

जब (अन्तरात्मा पर से)अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(३१६)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(३१७)

जब केवलज्ञानी जिन लोक अलोकरूप समस्त ससार को जान लेता है, तब (आयु समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोधन कर शैलेशी (अचल-अकम्प) अवस्था को प्राप्त होता है।

(३१८)

जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोधन कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३१९)

जब आत्मा सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के मस्तक पर—ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

(३२०)

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहाविस्स दुल्लहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२०॥

(३२१)

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमईखन्तिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥

(३२०)

जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनो के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में पडकर हाथ, पैर, मुँह आदि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी दुर्लभ है।

(३२१)

जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और संयम में रत है, शान्ति के साथ क्षुधा आदि परीषहो को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बडी सुलभ है।

: २४ :

विवाद-सुत्तं

(३२२)

नत्थियवाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा ॥१॥

(३२३)

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥२॥

(३२४)

बम्हवाओ

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ ॥३॥

: २४ :

विवाद-सूत्र

(३२२)

नास्तिक वाद

कितने ही लोगो की ऐसी मान्यता है कि इस ससार में जो कुछ भी है वह केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश— ये पाँच महाभूत ही हैं।

(३२३)

उक्त महाभूतो में से एक (आत्मा) पैदा होती है, भूतो का नाश होने पर देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है। [अर्थात्— जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। वह पाँच महाभूतो में से उत्पन्न होता है, और जब वे नष्ट होते हैं, तब उनके साथ ही स्वय भी नष्ट हो जाता है।]

(३२४)

ब्रह्मवाद

जैसे, पृथ्वी का समूह (पृथ्वीस्तूप) एक (एकसमान) है, तो भी पर्वत, नगर, घट, शराव आदि अनेक रूपो मे पृथक्-पृथक् मालूम होता है; उसी तरह समस्त विश्व भी विज्ञ-स्वरूप (एक ही चैतन्य आत्मा के रूप में समान) है, तथापि भेद-बुद्धि के कारण वन, वृक्ष आदि जड तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चैतन्य के रूप मे पृथक्-पृथक् दिखाई देता है।

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाओ

पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिया ।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया ॥४॥

(३२६)

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इओऽवरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥५॥

(३२७)

अकिरियावाओ

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई ।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥६॥

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाद

ससार मे जितने भी शरीर हैं, वास्तव मे वे ही एक-एक आत्मा हैं—अर्थात् आत्मा या जीव जो कुछ भी है, यह शरीर ही है। शरीर-नाश के बाद मूर्ख या पडित, धर्मात्मा या पापी परलोक में जानेवाला कोई भी नही रहता। क्योकि शरीर से पृथक् कोई भी सत्त्व (प्राणी) औपपातिक (एक जन्म से दूसरे जन्म मे उत्पन्न होनेवाला) नही है।

(३२६)

न पुण्य है, न पाप है, और न इन दोनो के फलस्वरूप प्रस्तुत दृश्य जगत् से अतिरिक्त परलोक के नाम से दूसरा कोई जगत् ही है। शरीर के नाश के साथ ही तत्स्वरूप देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।

(३२७)

अक्रियावाद

आत्मा करनेवाला या करानेवाला—यो कहिए कि किसी भी प्रकार से कुछ भी क्रिया करनेवाला नही है। इसी भाति कितने ही प्रगल्भ (धृष्ट) होकर आत्मा को अकारक (अकर्ता) बतलाते है।

(३२८)

खंधवाओ

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खण-जोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥७॥

(३२९)

निच्च-वाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
आयछट्ठा पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥८॥

(३३०)

दुहओ न विणस्सन्ति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतिभावमागया ॥९॥

(३२८)

स्कन्धवाद

कितने ही बाल (अज्ञानी) ऐसा कहते है कि संसार में मात्र रूपादि पाँच ही स्कन्ध है और वे सब क्षणयोगी—अर्थात् क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होनेवाले है। इनके अतिरिक्त, सहेतुक या निर्हेतुक तथा भिन्न या अभिन्न—दूसरा कोई भी (आत्मा-जैसा) पदार्थ नही है।

(३२९)

नित्यवाद

कितने ही लोगो का ऐसा कहना है कि पाँच महाभूत है, और इनसे भिन्न चित्स्वरूप छठा आत्मा है। तथा ये सब आत्मा और लोक शाश्वत है—नित्य है।

(३३०)

यह जड और चैतन्य—उभयस्वरूप जगत् न तो कभी नष्ट होता है, न कभी उत्पन्न ही होता है। असत् की कभी उत्पत्ति नही होती, सत् का कभी नाश नही होता; इसलिए सब पदार्थ सर्वथा नियतता (नित्यता) को प्राप्त है।

(३३१)

नियतिवाओ

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥१०॥

(३३२)

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया ।
संगइयं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहिया ॥११॥

(३३३)

धाउ-वाओ

पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥१२॥

(३३१)

नियतिवाद

कितने ही ऐसा कहते हैं कि ससार में जीवात्माएँ नैमित्तिक अथवा अनैमित्तिक जो भी सुख-दु ख का अनुभव करती हैं, तथा समय आने पर अपने स्थान पर च्युत होती है, वह सब आत्मा के अपने पुरुषार्थ से नही होता—नियति से ही होता है। अस्तु, जब अपने सुख-दु ख की आत्मा आप विधाता नही है, तब भला दूसरा कोई तो हो ही कैसे सकता है ?

(३३२)

जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् रूप से जो सुख-दु ख का अनुभव करती हैं, वह न तो स्वकृत ही होता है और न परकृत ही। यह जो कुछ भी उत्थान या पतन हुआ करता है, सब सागतिक है—नियति से है। (जब जहाँ जैसा बननेवाला होता है, तब वहाँ वैसा ही नियति-वश बन जाता है। इसमें किसी के पुरुषार्थ आदि का कुछ भी वश नही चलता।)

(३३३)

धातु-वाद

दूसरे लोग ऐसा कहते है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु —इन चार धातुओ (धारक तथा पोषक तत्त्वो) का ही यह रूप (शरीर तथा ससार) बना हुआ है। इनके अतिरिक्त, दूसरा कुछ भी स्वतन्त्र पदार्थ नही है।

(३३४)

जग-हेतुवाओ

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहिया ।
देव-उत्ते अयं लोए, बंभउत्ते य आवरे ॥१३॥

(३३५)

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहाऽवरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥१४॥

(३३६)

सयंभुणा कडे लोए, इइ वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुआ माया, तेण लोए असासए ॥१५॥

(३३७)

उवसंहारो

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडियमाणिणो ।
निययानिययं सन्तं, अयाणन्ता अबुद्धिया ॥१६॥

(३३४)

जगत्कर्तृत्ववाद

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कितने ही लोगो का यह भ्रान्तिमय वक्तव्य है—

—"कोई कहते हैं कि यह लोक देवो ने बनाया है।"

—"कोई कहते है कि यह लोक ब्रह्मा ने बनाया है।"

(३३५)

—"कोई कहते है कि यह लोक ईश्वर ने बनाया है।"

—"कोई कहते है कि जड और चैतन्य से युक्त तथा सुख और दु ख से समन्वित यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा बना है।"

(३३६)

—"कोई कहते है कि—यह लोक स्वयम्भू ने बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। अनन्तर मार ने माया का विस्तार किया—इस कारण लोक अशाश्वत (अनित्य) है।"

(३३७)

उपसंहार

अपने-आपको पण्डित माननेवाले बुद्धिहीन मूर्ख इस प्रकार की अनेक बातें करते हैं। परन्तु नियति क्या है और अनियति क्या, यह कुछ भी नही जानते, समझते।

(३३८)

ते नावि संधि नच्चाणं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥१७॥

(३३९)

नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोन्ति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥१८॥

(३४०)

उच्चावयाणि गच्छन्ता, गब्भमेस्सन्तिऽणन्तसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे ॥१९॥

(३३८)

वे न तो ठीक-ठीक कर्म-सन्धि का ही ज्ञान रखते है, और न उन्हें कुछ धर्म का ही भान है। जो ऐसी अनर्गल बातें करते है, वे ससार (-समुद्र) से पार नही हो सकते।

(३३९)

जरा, मरण और व्याधि से पूर्ण ससार-चक्र में वे लोग बार-बार नाना प्रकार के दु ख भोगते रहते है।

(३४०)

वे लोग कभी तो ऊँची योनि में जाते है, और कभी नीची योनि में जाते हैं। यो ही इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ में पैदा होगे, जन्म लेंगे और मरेंगे—जिनश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है।

: २५ :

खामणासुत्तं

(३४१)

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१॥

(३४२)

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

(३४३)

आयरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥

(३४४)

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥४॥

(३४५)

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥५॥

: २५ :

क्षमापन सूत्र

(३४१)

धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मै सद्भावपूर्वक सब जीवो के पास अपने अपराधो की क्षमा मांगता हूँ और उनके सब अपराधो को मै भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

(३४२)

मै नतमस्तक होकर भगवत श्रमणसंघ के पास अपने अपराधो की क्षमा मांगता हूँ और उनको भी मै क्षमा करता हूँ।

(३४३)

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सार्धमिक बन्धुओ तथा कुल और गण के प्रति मैने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा मांगता हूँ।

(३४४)

मै समस्त जीवो से क्षमा मांगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें। सर्व जीवो के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है; किसी के भी साथ मेरा वैर नही है।

(३४५)

मैने जो जो पाप मन से—सकल्पित—किये है, वाणी से बोले है और शरीर से किये है, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जायें।

पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

संवर—अनासक्त प्रवृत्ति—आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति ।

अनुत्तर—उत्तमोत्तम ।

अनगार—जिसका अमुक एक घर नही है अर्थात् निरंतर सविधि भ्रमणशील साधु ।

केवली—केवल ज्ञानवाला—सतत शुद्ध आत्मनिष्ठ ।

शैलेशी—शिलेश—हिमालय, हिमालय के समान अकंप स्थिति ।

परीषह—जब साधक साधना करता है तब जो जो विघ्न आते हैं उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है। साधक को उन सब विघ्नो को सहन करना ही चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ ।

औपपातिक—उपपात अर्थात् स्वर्ग मे या नरक मे जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी ।

त्रस—धूप से त्रास पाकर छाँह का और शीत से त्रास पाकर धूप का आश्रय लेनेवाला प्राणी—त्रस ।

तिर्यंच—देव, नरक और मनुष्य को छोड़कर शेष जीवो का नाम 'तिर्यंच' है ।

निर्ग्रन्थ—गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज जिनके पास नही है—अपरिग्रही—साधु ।

एषणीय—शोधनीय–खोज करने लायक—जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नही इस प्रकार गवेषणा के योग्य ।

विड—गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

रजोहरण—रज को हरनेवाला साधन—जो आजकल पतली ऊन की डोरियो से बनाया जाता है—जैन साधु निरंतर पास रखते है—जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाड़कर बैठते है । जिसका दूसरा नाम 'ओघा'—'चरवला' है ।

आस्रव—आसक्ति युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति ।

द्वीन्द्रिय—स्पर्श और रस, इन दो इन्द्रियो वाले जीव—जैसे जोक इत्यादि ।

त्रीन्द्रिय—स्पर्श, रस सौर घ्राण इन तीन इन्द्रियो वाले जीव—जैसे चीटी आदि ।

चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, रस, घ्राण और नेत्र—इन चार इन्द्रियो वाले प्राणी—जैसे भ्रमर आदि ।

किंपाकफल—जो फल देखने मे और स्वाद मे सुन्दर होता है पर खाने से प्राण का नाश करता है ।

पुद्गल—रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द वाले जड पदार्थ या जड़ पदार्थ के विविध रूप ।

निर्जरा—कर्मो को नाश करने की प्रवृत्ति—अनासक्त चित्त से प्रवृत्ति करने से आत्मा के सब कर्म नाश हो जाते है ।

श्रद्धान—श्रद्धा—आप्त पुरुष में दृढ विश्वास।

सचित्त—चित्तयुक्त—प्राणयुक्त—जीवसहित कोई भी पदार्थ।

अचित्त—सचित्त से उलटा—निर्जीव।

कषाय—आत्मा के स्वरूप को कष—नाश—करनेवाले, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार महादोष।

अगृद्ध—अलोलुप।

मति—इन्द्रियजन्य ज्ञान।

श्रुत—शास्त्रज्ञान।

मन पर्याय—दूसरो के परोक्ष वा अपरोक्ष मन के भावो को ठीक पहचाननेवाला ज्ञान।

अवधि—रूपादियुक्त परोक्ष वा अपरोक्ष पदार्थ को जान सकनेवाला मर्यादित ज्ञान।

केवल—सब को जान सकनेवाला ज्ञान।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान के आवरण रूप कर्म—ज्ञान, ज्ञानी वा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेपादि दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म बँधते है।

दर्शनावरणीय—दर्शनशक्ति के आवरणरूप कर्म।

वेदनीय—सासारिक सुख वा दु ख के साधनरूप कर्म।

मोहनीय—मोह को उत्पन्न करनेवाले कर्म—मोहनीय कर्म के ही प्रावल्य से आत्मा अपना स्वरूप नही पहचानता।

ऊनोदरी—भूख से कुछ कम खाना—उदर को ऊन रखना—पूरा न भरना।

संलेखना—कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक आन्तर और बाह्य निमित्तो को घटाते हुए कषाय को पतला बनाने की—शरीर के अन्त तक चलती हुई प्रवृत्ति।

वैयावृत्त्य—बाल, वृद्ध,रोगी ऐसे अपने समान धर्मियो की सेवा।

लेश्या—आत्मा के परिणाम—अध्यवसाय।

समिति—शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।

गुप्ति—गोपन करना—सरक्षण करना; मन, वचन और शरीर को दुष्ट कार्यो से बचा लेना।

ईर्या—गमन—आगमन वगैरे क्रिया।

एषणा—निर्दोष वस्त्र पात्र और खानपान की शोध करना।

आदान-निक्षेप—कोई भी पदार्थ को लेना या रखना—मूकना।

उच्चारसमिति—शौच क्रिया वा लघुशका अर्थात् किसी भी प्रकार का शारीरिक मल। मल को ऐसे स्थान में छोड़ना जहाँ किसी को लेश भी कष्ट न हो और जहाँ कोई भी आता जाता न हो और देख भी न सके।